भ्रामत-पाथक

(एक अन्योक्तिरूप गद्य-काव्य

लेखक—

पं० सद्गुरुशरण अवस्थी बी० ए०

प्रोफेसर विश्वम्भरनाथ सनातनधर्म का...

प्रस्तावना-लेखक—

पं० हरदत्त शर्मा एम०

प्रोफेसर सनातनधर्म कालेज,

प्रकाशक—

अभ्युदय प्रेस, प्रयाग।

प्रथम संस्करण } १९२९ { मूल्य सादी १॥)
सजिल्द १॥।)

समर्पण-पत्र

--

आपको यह कदापि अभीष्ट न होगा कि आपका नाम समर्पण-पत्र में लिख दिया जाय। आपके मनोभाव मैं भले प्रकार समझता हूँ। अतएव नाम देकर आपको कष्ट देना मुझे अभीष्ट नहीं। आप प्रसिद्धि के प्रकाश से बहुत दूर भागते हैं। परन्तु यह वस्तु आपही की है, और आपही की मूक प्रेरणा से लिखी गई है। आपही से प्राप्त भाव और विचार इस पुस्तक में मिलेंगे।

'त्वदीयं वस्तु—तुभ्यमेव समर्पयेत्।'

सद्गुरुशरण अवस्थी

मेरा-प्रयास

जिस समय 'भ्रमित-पथिक' समाप्त हुआ मैंने समस्त ग्रन्थ को एक बार पढ़ा। लिखते समय मैंने साथ ही साथ कभी उसकी पुनरावृत्ति नहीं की थी। सम्भव है इसी-लिए जब मैंने सारी पुस्तक समाप्त हो जाने के पश्चात पढ़ी तो मुझे वह एक प्रकार से नयी सी मालूम हुई। कई स्थल तो ऐसे प्रतीत हुए कि मानो मैंने कभी उन्हें पढ़ा ही नहीं। सम्भव है पाठकों को इस पर सहसा विश्वास न हो। मुझे स्वयं भी अपनी विस्मरण-शील बुद्धि पर हँसी आती है। कुछ स्थल तो मुझे ऐसे मिले जिनका प्रसङ्ग बार-बार स्मरण करने से उनकी याद आ गयी। परन्तु कुछ भागों का तो बिलकुल स्मरण ही नहीं आया। वे ऐसे नये प्रतीत होते थे कि मानों उनका लेखक मैं हूँ ही नहीं—यह इसलिए नहीं कि वे स्थल बहुत सुन्दर अथवा कला की दृष्टि से अत्युत्तम हैं, वरन् इसलिए कि मुझे उनमें स्वकीयता का सर्वथा अभाव सा प्रतीत होता था।

सम्भव है कि यह मनोवृत्ति इसलिए हुई हो कि सम्पूर्ण पुस्तक एक बार नहीं लिखी गयी। सन्तों के प्रेम के अन्त तक का भाग पहिली बार लिखा गया जिसके लिखने में लगभग एक महीना लगा होगा। फिर आधी लिखी हुई पुस्तक लगभग दो महीने पड़ी रही। पुस्तक के प्रकाशन का परामर्श मेरे मित्रों ने दिया। पुस्तक का कुछ भाग मैंने अपने कृपालु मित्रों को सुनाया। उन्होंने इसको प्रकाशित के लिए मुझे अत्यधिक आदेश दिया। पं० माखनलाल चतुर्वेदी-'कर्मवीर' सम्पादक मेरे ऊपर विशेष कृपा रखते हैं। एक बार वे मेरे घर पर पधारे। उन्होंने भी पुस्तक का कुछ भाग सुना और उसे अच्छा कहा। उनके विचारों का और उनकी काव्य-मर्मज्ञता का मैं आदर करता हूँ। उनके परामर्श की उपेक्षा मैं न कर सका। साथ ही साथ 'सन्तों का प्रेम' नामक इसी पुस्तक के एक भाग को मैंने अपने आदरणीय मित्र पं० कृष्णबिहारी मिश्र बी० ए०, एल० एल० बी०-'माधुरी' सम्पादक के अनुरोध से उनकी पत्रिका में प्रकाशित होने के लिए प्रेषित कर दिया। कानपुर में उनसे भेंट होने के पश्चात् मुझे उनसे यह जानकर हर्ष हुआ कि लोगों ने उसे पसन्द किया। इस कारण भी पुस्तक को समाप्त

करके छपवाने के सम्बन्ध में मुझे भी थोड़ी उत्कण्ठा हुई।

अस्तु जैसा ऊपर कहा गया है कि लगभग दो महीनों के पश्चात् पन्द्रह दिनों तक परिश्रम करके मैंने पुस्तक को समाप्त कर दिया। मेरे आदरणीय मित्र बाबू हीरालाल खन्ना एम० एस० सी०—प्रिन्सिपल विश्वम्भरनाथ सनातन धर्म इण्टरमीजियेट कालेज, कानपुर, प्रयाग जा रहे थे। उन्होंने मुझे इस पुस्तक को 'अभ्युदय' प्रेस में प्रकाशित कराने का परामर्श दिया और पुस्तक अपने साथ लेते गये। पं० कृष्णकान्त जी मालवीय ने इस पुस्तक को प्रकाशित करने का जो कष्ट उठाया है उसके लिए मैं उनका हृदय से आभारी हूँ।

यह तो 'श्रमित-पथिक' की रचना का इतिहास हुआ। सम्भव है कि यदि मैं यहाँ पर थोड़ी चर्चा इस बात की कर दूँ कि इस पुस्तक का आरम्भ कैसे हुआ तो पाठकों का एक विशेष प्रकार का मनोरञ्जन हो जाय। एक बार मैं एक अपने अत्यन्त निकट मित्र बाबू रामेश्वर-प्रसाद पाटोदिया के यहां बैठा हुआ कुछ साहित्यिक चर्चा कर रहा था। कुछ और नवयुवक साहित्य प्रेमी विद्यार्थी बैठे हुए थे। प्रसङ्गवश यह चर्चा उठी कि गद्य-

काव्य कौन अच्छा लिखता है। कई साहित्य-सेवियों की मीमांसा आरम्भ हुई। कई एक की समालोचना की जाने लगी। अन्त में यह निश्चय हुआ कि हम लोग सब कुछ न कुछ सुन्दर गद्य में लिखकर दूसरे दिन दिखायें। निदान हम लोगों ने लगभग दो दो पृष्ठ के लिखा। सब की कृतियाँ पढ़ी गयीं। मेरा भी गद्य पढ़ा गया। 'प्रभात हुआ' से लेकर इस पुस्तक के दो पृष्ठों के अन्त तक का सब भाग उसी दिन लिखा गया था। मेरे मित्रों ने उसे पसन्द किया। उस दिन का अभिनय तो यों ही समाप्त हुआ। मुझे कुछ चसका सा लग गया। मैं प्रतिदिन उसी गद्य को और आगे बढ़ाने लगा। यहाँ तक कि यह बढ़ता बढ़ता इस वर्तमान 'भ्रमित-पथिक' पुस्तक के आकार का हो गया।

'भ्रमित-पथिक' एक अन्योक्ति है। अतएव इसके वस्तुविन्यास (Plot) का ठीक ठीक अन्त तक निभाना बड़ा कठिन है। नहीं मालूम इसमें मुझे सफलता मिली है या नहीं? मैंने उसके लिए कुछ भी प्रयास नहीं किया अतएव मुझे अधिक चिन्ता नहीं। कालेज में विद्यार्थियों को निबन्ध लिखाते समय मैं हमेशा विचार-विनिमय कर लिया करता हूँ और बालकों को हमेशा प्रबन्ध का

ख्याका तय्यार करने को बाध्य किया करता हूँ। कभी कभी स्वयं उसे तय्यार करके बालकों को लिखा दिया करता हूँ। मेरा यह विश्वास था कि ख्याका के बिना सुन्दर और श्रृंखलित निबन्ध लिखा ही नहीं जा सकता। परन्तु इस ग्रन्थ ने मेरे इस सिद्धान्त को बिलकुल शिथिल कर दिया। 'भ्रमित-पथिक' को लिखते समय मैंने कभी नहीं सोचा कि आगे क्या लिखूँगा। एक दो दिन पहले सोचने की तो बात ही और है लिखते समय तक यह नहीं सोचा कि दो मिनट के आगे मुझे क्या लिखना है। लेखनी स्वतः विचारों की सृष्टि करती गयी और मैं लिखता गया। मुझे भली भांति स्मरण है कि कभी भी मुझे लेखनी इसलिए नहीं रोकनी पड़ी कि थोड़ा सा सोच लूँ कि क्या लिखना है। न कभी शब्दों का, न भाव का, न घटना का और न कथाक्रम का विचार करने की आवश्यकता हुई। यदि 'भ्रमित-पथिक' में कोई कथा-क्रम और गाथा विकास का तारतम्य आ गया है तो उसके लिए कभी भी मैंने सजग प्रयत्न नहीं किया। इस प्रयोग से मुझे शिक्षण-कला सम्बन्धी एक नया लाभ हुआ। समझदार बालकों की मौलिकता और स्वकीयता कायम रखने के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि उन्हें

इसी प्रकार का ढाँचा देकर बाद में किया ...
अपना प्रबन्ध उसी के अनुकूल करें।
इस ग्रन्थ में बहुत से अवतरण हैं। मैंने उन्हें अपनी
स्मरण शक्ति के बल पर दिया है, अतएव उनमें अशुद्धियाँ
हो सकती हैं। जिन अवतरणों के विषय में मुझे सन्देह
था उन्हें बाद में ढूँढ़ कर ठीक कर लिया है। परन्तु
बहुत से अवतरण केवल स्मरण शक्ति के ही बल पर दिये
गये हैं। इस ग्रन्थ में जो कुछ भी चिन्तना का काम है
उसका भी अधिकांश में मेरा नहीं है। समय समय पर
भिन्न भिन्न विषयों पर अपने विद्वान् और सहृदय मित्रों से
बहस करने की मुझे आदत है। उन्हीं के वाद-विवाद
का जो प्रभाव मन पर पड़ता रहा है वही इस ग्रन्थ में
अधिकतर है। कुछ ग्रन्थों के पढ़ने का परिणाम है।
संस्कृत और हिन्दी साहित्यिक ग्रन्थों के अनुशीलन
से बड़े बड़े कवियों के सुन्दर सुन्दर प्रयोग भी मन में
जम गये हैं। उनकी अनूठी उक्तियाँ, उनके रूपक और
सादृश्य, उनके कलात्मक वर्णन इत्यादि मेरे स्मरण-पट
पर गुप्त रूप से अङ्कित होते रहे हैं। जहाँ तक मैं समझता
हूँ इस ग्रन्थ में अधिकतर यही पुराने कवियों के प्रमाण
और उनकी उक्तियाँ दृष्टिगत होंगी। इन बातों को निकाल

डालने पर भी यदि ग्रन्थ में कुछ रह जाता है तो मुझे उसके लिए हर्ष होगा। मुझे केवल इतने से ही सन्तोष हो जायगा, यदि एक भी व्यक्ति यह कह दे कि इस ग्रन्थ की बहुत सी घटनाओं का वह स्वयं प्रयोग है, अथवा रहा है, अथवा साक्षी रूप से उसका अनुमोदन करता है।

पूर्व की भाषा कुछ क्लिष्ट सी हो गयी है। परन्तु यह नहीं कि समझ में न आवे। तो भी भाषा सम्बन्धी इस दुरूहता का मुझे खेद है। सम्भव है कि मेरी कलात्मक व्यञ्जना करने की व्यर्थ की आकांक्षा ने मुझसे यह भूल करायी हो। मुझे इस प्रकार की चीज़ लिखने का अभ्यास नहीं। हिन्दी में प्रायः लेखों के स्वरूप में मैंने बहुत कुछ लिखा होगा, परन्तु आज तक कविता की एक पंक्ति भी नहीं लिखी। इसी प्रकार कभी भी कोई गल्प या उपन्यास नहीं लिखा। अपने ढङ्ग का यह पहिला ग्रन्थ है। इस दिशा में यह मेरा पहिला और सम्भवतः अन्तिम प्रयास है।

प्रेम-मन्दिर,
कानपुर।
११-७-१९२९

सद्गुरुशरण अवस्थी

प्रस्तावना

॥ श्रीशः पातु ॥

'दुःखादुद्विजते सर्वः सर्वस्य सुखमीप्सितम्'

इस जीवनयात्रा में प्रत्येक प्राणी का मुख्य ध्येय सुख-प्राप्ति ही है। दुःख का परित्याग प्राणिमात्र ही को अभीष्ट है। जैसे जैसे जीव विकास को प्राप्त होता चला जाता है वैसे वैसे ही दुःखनिवारण के उपायों के ढूंढ़ निकालने में विशेष विशेष उन्नति प्राप्त करता हुआ दीखता है। किन्तु, रोग की ठीक ठीक विवेचना होने से पहिले जिस प्रकार उसका प्रतिकार करना अंधेरे में टक्करें खाना है, उसी प्रकार दुःख की ठीक ठीक परिभाषा होने से पहले उसका निवारण करना भी असंभव ही है। दर्शन शास्त्र में दुःख की परिभाषा इस प्रकार है—'प्रतिकूलतयाऽऽत्मवेदनीयं दुःखम्'। जो अपने आपे को अच्छा न लगे, अर्थात् जो अपने बिलकुल उल्टा पड़ता हो उसे दुःख कहते हैं। सांख्यकारिकाकार श्रीयुत ईश्वरकृष्ण इस दुःख के तीन विभाग करते हैं। आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक। दर्शनशास्त्र की भित्ति की नींव इन तीन दुःखों के निवारणार्थ उपायविशेष का जिज्ञासा पर स्थित है। यद्यपि इन सब के उपाय दृष्टि-

र तथा आधिभौतिक शास्त्रों की उन्नति के कारण दु
म अवश्य होगये हैं, तथापि इन उपायों का सामर्थ्य
ख का एकान्ताभाव तथा अत्यन्ताभाव करने में नहीं
। इसीलिये वैज्ञानिक उपायों की अपेक्षा दार्शनिक
पायों का अवलंबन करना हमारे तथा अन्यदेशीय सिद्ध
ौर अनुभवी पुरुषों का लक्ष्य रहा है। आसक्ति, राग,
ेष, ईर्ष्या, भय, क्रोध इत्यादि दुर्गुणों के वशीभूत हो
र ही प्राणी दुःख उठाता है—ऐसा सब का सिद्धान्त है।
ास्त्राध्ययन, तथा संसार का पर्याप्त अनुभव भी प्राणी के
नेत्र खोलने में सर्वदा सफल नहीं हो उठता। सब देख
भाल कर, पढ़ लिख कर भी मनुष्य पापाचरण में प्रवृत्त हो
जाया करता है। इन सब दुःखों का मूल कारण आध्या-
त्मिक (अर्थात् मानसिक) उच्छृंखलता में संनिविष्ट है।
मन ही मनुष्य के बन्ध (दुःखबंध) तथा मोक्ष (दुःख
मोक्ष) का कारण है—'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध-
मोक्षयोः'। मनोनिग्रह सचमुच ही 'वायोरिव सुदुष्करं'
है। इस चञ्चल मन की नाव को वासनारूपी वायु के झोंके
कहीं एक जगह टिकने देते हैं? आज इसको यह चाहिये
तो कल कुछ और। ऐसी मानसिक परिस्थिति में हो
हुए मनुष्य की कथा अनिर्वचनीय अथवा अवर्णनीय द

हो जाती है, यही इस पुस्तक का विषय है।

'भ्रमित-पथिक' एक अन्योक्तिरूप गद्यमय काव्य है। इसकी भाषा कैसी है तथा साहित्य में ऐसे ग्रन्थ का क्या स्थान है, इसका आगे विवेचन किया जायगा। भ्रमित अर्थात् भ्रमणशील पथिक एक साधारण विवेकशील किन्तु वेत्र के समान चाहे जिधर को मुड़ जाने वाले, संसारी पुरुष का इतिहास है। इसकी हम बनयन (Bunyan) के (Pilgrim's Progress) पुस्तक के (Neighbour Pliable) के साथ तुलना कर सकते हैं। यात्रा के प्रारम्भ होते ही भिन्न भिन्न दिशाओं से यात्री लोग आकर हमारे पथिक को मिलते हैं। इनमें 'पश्चिम मार्ग से आते हुए.........रंगरूप में कर्पूर की भाँति उज्ज्वल' तथा 'काँटे का मुकुट रखने वाले' (अर्थात् Jesus Christ) के चेले तो हमारे यूरोपनिवासी हैं। कुछ भारतवासी हैं, जिनमें भिन्न भिन्न संप्रदायावलम्बी योगी, वैरागी, जटाधारी, चिमटाधारी सम्मिलित है। इन सब का चित्र देखते ही एक कवि की सूक्ति का ध्यान आ जाता है—

> 'मूंड मुंडाये तीन गुन, मिटै सीस की खाज।
> खाने को मोदक मिलें, लोग कहैं महाराज ॥'

रखना ही परम धर्म तथा ध्येय है, सांसारिक बनाव सजाव ही चरम लक्ष्य है—इस आदर्श को सामने रखने वाले, संसारवासनाओं में लिप्त होने के लिये संसार-परित्याग करने वाले, शैव, बौद्ध, जैन तथा अन्य संप्रदायों के प्रतिनिधि, ज्ञान की दीपशिखा को 'शीघ्र बोध' की शिखाद्वारा व्यंजित करने वाले साधुओं से हिन्दूसमाज को जैसी हानि पहुँच रही है, उसका प्रत्यक्ष चित्र आपके सामने है। इस माया-पंक में हमारा पथिक ऐसा फँसता है कि अवधूत के बारंबार के उपदेश को तथा स्वयं अवधूत को, ठोकरों से धराशायी कर डालता है। यह अवधूत यद्यपि कहलाने को तो हमारे पथिक का शिष्य है तथा बाह्य आचरण भी वैसा ही करता है, तथापि (Pilgrim's Progress) के (Evangelist) का प्रतिबिंब है। अन्त में यह हमारे पथिक का गुरु बन कर ही हटा है। जब हमारे पथिक पर उपदेशों का कुछ असर नहीं होता, क्योंकि 'लातों की बुद्दिया कहीं बातों से मानती है?" तब दैवी आपत्ति ही डाकुओं के स्वरूप में आकर आंखें खोलती है। 'पञ्चाङ्गुलियों के ऐक्य' ने पथिक की सब दया भुला दी, 'वैजयन्ती-माला' पहिनने के कारण तथा 'दण्डदण्ड' के अकाण्डपात से नेत्र

'अधिक तत्परता से लज्जारूपी रत्न' की खोज में धूलि में गड़ जाते हैं। उस विकल अवस्था में हमारे पथिक को चेत होता है, तथा उसके मुख से निम्नलिखित दुःखभरे उद्गार सहसा निकल पड़ते हैं—

"ऐ मूर्ख प्राणी! कहाँ है तेरी शान शौकत? कहाँ हैं तेरे दिव्य? तेरी विद्वत्ता कहाँ है? तेरा मान ऐश्वर्य कहाँ है?........"इत्यादि। इन आपत्तियों से हमारा पथिक सस्ता ही छूट जाता है केवल एक उंगली भर कट जाती है। हमारे अवधूत ही इनके इस समय तथा भविष्य में भी छुटकारे के तथा सन्मार्ग पर चलाने के लिये उद्यत हैं।

यहां से छूट कर पथिक पहुँचते हैं पंचराहे पर। इसके बाँई ओर के मार्ग से एक यात्री आता है। हमारा पथिक अपने समान उसकी भी कटी हुई उंगली देख कर कथा पूछ बैठता है। यह यात्री कहता है कि यह कटी उंगली कामवासना में फंसजाने के अपराध का दण्ड है। हमारा पथिक इस बात पर उत्तेजित होकर कहने लगता है—

'आपने अपना अपमान कैसे सहा?......क्या गौरव की भावना आप में नहीं है?' इत्यादि।

नवागन्तुक यात्री पथिक की इस बात पर बड़ी नम्रता से उत्तर देता है—'हे पथिक! मकरध्वज की मिथ्यालालसा का परित्याग कीजिये। इसकी मार पर शत्रु का आघात भी कुछ नहीं कर सकता'।

सहसा उसी बाँई ओर से आने वाला आर्त्तनाद पथिक को आकृष्ट कर लेता है। और उधर जाते ही उसको 'साक्षात् देहधारी अनङ्ग भगवान् का दर्शन होता है। इस शाश्वतयौवनधारी पुष्पधन्वा के बाणों से विद्ध सहस्रों पुरुष दिखाई पड़ते हैं। प्रत्येक स्थान तथा देश के प्रतिनिधि यहाँ पर उपस्थित हैं, 'ढीले पइजामे वाले' अफ़ग़ान, 'चपटी नाकवाले चीनी', 'पश्चिमी जामा पहने जापानी', 'योरप के निवासी' तथा अनङ्गभगवान् के चरण ग्रहण किये हुए फ्रांसवासी और 'पातालपुरी (अमेरिका)' के लोग सभी अपने वक्षःस्थल पर बाणों की वर्षा को सहर्ष स्वीकार करते हुए करुण-क्रन्दन की हंसी हंस रहे हैं। इस जगह पर पाठकों को स्टेथेस्कोपधारी डाक्टर, चन्द्रोदय की डिबिया लिये वैद्य, यहां तक कि वकील, पण्डित, वक्ता, योगी, वैरागी, व्यापारी सभी दृष्टिगोचर होते हैं। सच है, भला कौन बच सकता है कामदेव से? कवि ने ठीक कहा है—

"विश्वामित्रपराशरप्रभृतयो वाताम्बुपर्णाशना
स्तेऽपि स्त्रीमुखपङ्कजं सुललितं दृष्ट्वैव मोहं गताः।
शाल्यन्नं सघृतं पयोदधियुतं ये भुंजते मानवा—
स्तेषामिन्द्रियनिग्रहो यदि भवेद् विन्ध्यस्तरेत् सागरम् ॥

हमारे पथिक भी आटा ही खाते थे, कुछ भूसा तो फांकते न थे जो कामोद्यान में से बिना केलि किये निकल जाँय। आखिर फंस ही तो गये। जाले में फँसी हुई मक्खी के समान जितने उद्योग पथिक इस पाश से उन्मुक्त होने के करता है, उतना ही अधिकाधिक फंसता चला जाता है। चाहे गुसांई जी स्त्री जाति की निन्दा करें, चाहे कबीरदास और धरनीदास सिर फोड़ मरें, चाहे दरियासाहब और पलटूसाहब लोट पलट करें, किन्तु यह परोपदेशमात्र हैं। नीम का कड़वापन कुछ कहने से नहीं प्रतीत होता, यह तो आस्वादन से सम्बन्ध रखता है। ऐसे समय पर शास्त्र भी परस्पर-विरोधी जँचने लगते हैं, धर्म की सूक्ष्मगति से घबड़ा कर आत्महत्या करना भी 'असुर्या नाम ते लोकाः' इत्यादि उपनिषद्वाक्य से पाप ठहरा दिया जाता है। हाय रे मनुष्य की आत्मवंचना! या यों कहिये कि किंकर्तव्यवि-मूढ़ता के वशीभूत होकर मनुष्य ऐसे विचारविप्लव में

पड़ जाता है कि कोई मार्ग नहीं दीख पड़ता। अन्त
दुर्बलात्मा लोग अपनी नांव को 'यद्भविष्य' की बलि
में डाल देते हैं, चाहे नांव किनारे लगे या भँवर में जा
डूब जाय। फिसलते फिसलते 'नेत्र पक्के चोर हो
हूँ' और ध्यान में आने लगता है कि—

वेदाभ्यासजड़ः कथं नु विषयव्यावृत्तकौतूहलो
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः

लगे हाथ, महाशय 'पथिक' अहिंसा, सत्य अस्तेय,
नीति के मूलतत्वों पर शास्त्रों की पारस्परवि
सम्मतियों के उद्धरण तथा स्मरण द्वारा शास्त्रों
तथा लचरपना सिद्ध कर अपना मतलब सिद्ध
अधःपतन हो जाता है, और ऐसा होता है कि
की प्रेम दास्यता तथा एकमतत्व का अभाव प्र
कर भी एक के अनन्तर दूसरे प्रलोभन में फँ
पथिक महाशय आत्मविस्मृत हो उठते हैं।

सद्बुद्धि तथा विवेक की कृपा फिर एक बार
रूप से होती हुई प्रमाण होती है। 'सन्तों
विषय पर व्याख्यान होता ऐसी सूचना पाकर
(भगवान् जानें, यह पर्चा की कराधिपातिनी
ही किसी विवाहबन्धन के किस प्रकार प्राप्त

'सुन्दर उपवन' से निकलकर सभामण्डप में पहुँचता है। स्वामी प्रेमानन्द जी का व्याख्यान, जो कि पुस्तक के लग-भग ४० पृष्ठों में है, तथा जिसमें कि ग़ालिब, भवभूति, बिहारी, कबीर, मलूकदास, देव, जायसी, तुलसीदास, प्रतापनारायण, सूरदास, अहमद इत्यादि प्रेम के रस में पगे हुए अनेक भक्तों के हृदयोद्गारों का उल्लेख है; लेखक महोदय की विद्वत्ता, बहुश्रुतत्व तथा सूक्ष्म विवेचनाशक्ति का परिचायक है। प्रेम का वास्तविक रूप क्या है, प्रेम विषय-प्रेम से कितना भिन्न है तथा बड़े बड़े साधु संतों ने किस प्रकार प्रेम-मद में मस्त होकर संसार के ऐहिक-पदार्थों को तथा पारमार्थिक सुखों को भी लात मारदी है, इस पंथ में क्या क्या कठिनाइयां हैं—इन सब का सूक्ष्म विचार पढ़ना हो तो हम पाठकों का ध्यान पुस्तक के इस भागविशेष की ओर आकृष्ट करेंगे। इतना ही नहीं, पथिक के द्वारा किये हुए प्रश्न, वे प्रश्न हैं जो कि प्रत्येक विचारशील प्राणी के चित्त में उठते हैं। दर्शन-शास्त्र के गूढ़ तत्व, प्रेम तथा भक्ति का अन्तर प्रेम में लय और विकास दोनों का अस्तित्व, व्यावहारिक तथा पारमार्थिक दशा, मुक्ति, ज्ञानी के कर्म—यह ऐसे प्रश्न हैं, जिनका कि उत्तर किसी अनुभवी पुरुष के द्वारा

प्राप्त हो सकता है। स्वामी प्रेमानन्द जी, जो कि
...ार पूर्वपरिचित अवधूत महोदय ही हैं, इस वैचित्र्य
...या कौशल से इन दर्शनग्रन्थियों को सुलझा सुलझा कर
...खोलते हैं, कि पढ़ते ही बनता है। पथिक का नेत्रोद्घाटन
हुआ। उसे सूझा कि "मेरा अपमान हुआ है मेरे प्रेम का
किसी ने उत्तर नहीं दिया। यह ठुकराया गया।........
जिनको सैकड़ों बार इस बात का परिचय प्राप्त हो चुक
है कि मैं अपना सर्वस्व उनके चरणों में समर्पण कर
उन्हें सुख देना चाहता हूं, वे भी उपेक्षा करें तो फिर
संसार में है ही कौन ?" अवधूत—ने शिष्य के पूछने पर
कि मेरा कल्याण किस प्रकार होगा, उसने कहा—'यह
पाप तो प्रायश्चित से दूर हो सकता है'। कहना नहीं
होगा कि एक उंगली पथिक महाशय और खो बैठे।

विचारधारा फिर बदली मन में इस बार तीव्रता ...
समावेश हो उठता है। बार-बार अपमान सहने ...
कारण आत्मसम्मानरूपी मिथ्यागर्व से पथिक दीप्त
उठता है, तथा 'from frying pan to fire' नाम...
कहावत को चरितार्थ करता हुआ काम से बच कर ...
के चंगुल में फंस जाता है। बस फिर क्या कहना था?
से कोई बोला नहीं, कि पथिक महाशय ने आव दे...

ताव, एक ठोकर जड़ दी। अब तो जो मिलता है उसीसे थप्पड़ या घूँसे से बात होती है। तनिक सी भी बात हो, वही हमारे पथिक के मस्तिष्क को उष्ण कर देने में पर्याप्त हो जाती है। स्थान स्थान पर तथा अवसर कुअवसर पर पथिक का क्रोध नीतिमत्ता की सीमा को उल्लंघन करता हुआ दिखाई पड़ता है। इस प्रकार क्रोधान्ध अवस्था में हुआ देखकर अवधूत महोदय फिर न मालूम किधर से टपक पड़ते हैं, और पथिक को ज्ञान मार्ग के उपदेश द्वारा फिर प्रकृतिस्थ करते हैं। पथिक भी बड़े चाव से ज्ञान तथा कर्म, योग, आत्मबल, मनःसंयम इत्यादि गूढ़ रहस्यों के सम्बन्ध की पिपासा को अवधूतोपदेशामृत द्वारा शमन करता है। क्रोध का स्थान शान्ति ग्रहण करती है, और भगवद्गीता का उपदेश—

> क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात् स्मृतिविभ्रमः।
> स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ॥

पथिक के हृत्पटल पर अंकित होकर उसे सान्त्वना पहुँचाता है। गुरु तथा शिष्य दोनों श्रान्त होकर एक मंदिर के चबूतरे पर विश्रामार्थ पहुँचते हैं तथा वहां पर पथिक को निद्रा आजाती है और अवधूत वहां से अदृश्य

है। नींद खुलने पर पथिक के सामने एक और
उपस्थित है—यह है वात्सल्य का। मातृस्नेह
पने ही गर्भ से उत्पन्न शिशु की अपेक्षा नहीं
। यह दूसरे की सन्तान से भी इतना ही या अपनी
से भी अधिक हो सकता है। रमेश तथा 'हलह-
' का पारस्परिक पत्र व्यवहार हमारे समक्ष मातृ-
की पराकाष्ठा, माता का पुत्र के लिए आत्मोत्सर्ग
सर्वस्वत्याग का एक विचित्र आदर्श उपस्थित
है। एक दूसरे के प्रति क्या क्या दोषारोपण किया
अपने आप ही को किस किस प्रकार अपराधी
या है? यहां तक कि इस प्रेम-कलह में 'वाद'
' 'वितण्डा' इत्यादि नैयायिक परिभाषाओं का भी
मर निकाल डाला है। कुछ समय के उपरान्त हमारे
क इस रङ्गमञ्चरूपी मन्दिरप्राङ्गण में एक और अभि-
देखते हैं। यह भी प्रेम ही का है। यदि पहला दृश्य
रसल्यभाव का था, यदि पहले दृश्य में माता का सन्तान
प्रति स्नेह दिखाया गया था, तो दूसरा दृश्य मैत्रीभाव
ता है। मित्र का दूसरे के लिए आत्मत्याग किन्तु उधर
से उपेक्षा—इस का बड़ा ही सुन्दर चित्र है। पथिक
उठे, और चलते चलते प्रेम के विचित्रोदाहरण दृष्टिगो-

ग्र करते हुए स्वयं प्रेमोन्माद से मत्त होकर गा उठते हैं—

> जासु मन प्रेम करन की बान।
> कहा भयो जो पिउ नहीं रीझत,
> राखहु उतही ध्यान।

इस रागमस्ती की अवस्था में अवधूत फिर उपस्थित हो जाते हैं। फिर ज्ञान-चर्चा का प्रारंभ होता है। प्रेम तथा मोह में बड़ाही सूक्ष्म अन्तर तथा उनके बाह्य सादृश्य से मनुष्य को भूल न करनी चाहिये। तदनन्तर भगवद्गीता के सम्बन्ध में जो विविध विचार उत्पन्न हुआ करते हैं, उन सब का उत्तर पाठकों को अवधूत-पथिक संवाद में पूर्णरूप से मिलेगा।

भ्रमणशील पथिक फिर चल पड़ा। मार्ग में फिर वही पंचराहा उपस्थित। अब की बार, धन की उपेक्षा तथा धन से उत्पन्न होने वाले दुर्गुणों का प्रत्यक्ष अनुभव करते हुए, हमारे पथिक स्वयं ही धनपङ्क में मग्न हो जाते हैं। धन के कारण होने वाली शारीरिक दुर्दशा का चित्र अत्यन्त ही हृदयङ्गम है—

"थोड़ी देर में लगभग चार मन का एक मांसपिण्ड अपने फुफ्फुस की विशालता का परिचय देता हुआ

कांच फूँककर मोटर से पृथ्वी पर अवतरित (अवतीर्ण) हुआ।..........सारे शरीर का भार एक एक हाथ के दो स्तम्भों पर रक्खा था। जाघें परस्पर संघर्षण करती थीं। कपाल-पिण्ड एक बड़े दलदार तरबूज़ की भांति भारी था।.................पाचनमाण्डार की आकृति वर्षा द्वारा विरूपित एक दिशा की ओर लम्बायमान गुड़ के बोरे की भांति थी''..........'' इत्यादि।

पढ़कर पाठकों के हृदयटल पर अवश्य ही किसी न किसी।शरिचित सेठ का चित्र अंकित हो जाता है कारण ऐसे, मांस-मटकों की हमारे देश में कमी नहीं। लक्ष्मी भी क्या अंधी है जो ऐसे कुरूप कुवृत्त तथा अपव्ययी 'चौकट' धनयायिनधारी पुरुषाधर्मों का वरण करती है। अस्तु, अपने नारायण को इससे क्या ? 'कोउ नृप होहि हमें का हानी'।

किन्तु लक्ष्मी की माया क्या विचित्र है ? ज्ञान होने पर भी फिर वही अधःपतन। 'ज्ञानमपि विमुह्यति'। एक स्वर्ण मुद्रा देखने भर की देर थी, कि पथिक उसको हस्तगत करने के लिये लालायित हो उठता है। क्या क्या उपाय नहीं करता ? कौनसा कौशल नहीं करता ? यहां तक कि स्तेय को भी अपने ध्येय के अधिगमार्थ काम में

ले आता है। धनी होने की अभिलाषा को एक कालिज के विद्यार्थियों का वक्तृतासंघर्ष और भी उत्तेजित कर देता है। उस एक स्वर्ण मुद्रा से, द्यूत की कृपा के कारण द्यूतशाला से पथिक 'लगभग ६००० रु० लेकर' नीचे उतरता है फिर तो व्यापार में मालामाल, K. C. S. I. की उपाधि यूरोपभ्रमण इत्यादि सभी मनोरथ अच्छी तरह से पूर्ण होजाते हैं। वही दुर्गुण जो और धनिकों में होते हैं, हमारे पथिक को भी आक्रान्त कर डालते हैं। किन्तु परमेश्वर को पथिक की उन्नति यही थी, अतः व्यापार में घाटा, तथा अन्य प्रकार की सांसारिक आपत्तियों के कारण फिर पथिक के उद्बोधन की पारी आती है। संसार से घृणा, जीवन से घृणा तथा अन्य अभिलाषाओं की पूर्ति का अभाव, यह सब हमारे पथिक के चित्त में आत्महत्या की प्रबल इच्छा को उत्पन्न कर देते हैं। किन्तु अवधूत महोदय की कृपा के कारण पुनः उद्धार होता है।

इस समय हमारे पथिक का Period of Apparenticeship अवसान को प्राप्त हो जाता है। अब दीक्षा का समय उपस्थित है। अवधूत के उपदेश इस समय हृदय के अन्दर भली प्रकार से स्थान प्राप्त करते हैं।

'छाया न मूर्छति मलोपहतप्रसारे, शुद्धे तु दर्पणतले सुलभावकाशा'

र्पण का मल विना मले कैसे दूर हो सकता है? तपाये सोने में कैसे रंग आ सकता है? बिना कष्ट पश्चात्ताप के क्यों कर मानव-हृदय-दर्पण शुद्ध हो है? बिना Horizental Conversion के ical Conversion संभव नहीं। अवधूत के लेखित वाक्य वास्तव में तिल तिल सत्य हैं। आपको वास्तव में ऐसा कोई गुरु नहीं मिला, : गुरुत्व में आपको विश्वास हो, अन्यथा आपका हो गया होता'। सत्य है—

श्रद्धावांल्लभते ज्ञानम्, तथा 'अज्ञश्चाश्रद्धानश्च त्मा विनश्यति'।

र इस ज्ञान-प्राप्ति का साधन भी गुरु द्वारा है— का निम्नलिखित वाक्य भी गुरु को ही लक्ष्य कर गया है।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

द बिन होय न ज्ञान'। अब गुरु मिल गये तथा ठ गये'।

rect (साक्षात्) या अनुमार ज्ञान कुछ अधिक पतिनी नहीं हुआ करती। अभिधा द्वारा प्रति

पादित अर्थ न तो उतना सुन्दर ही होता है और न उतना व्यापक ही जितना कि व्यञ्जना द्वारा प्रतिपादित अर्थ होता है। अतएव सहृदयों में .जितना ध्वनि या व्यञ्जना का आदर है, उतना अभिधा का नहीं। किन्तु व्यङ्ग्यार्थ अपने अधिगमार्थ सहृदयता तथा प्रतिभाशालित्व की बहुत अपेक्षा रखता है। अतः ज्यों ज्यों व्यञ्जना का उपयोग कम होता जाता है त्यों त्यों अभिधा का प्रभुत्व बढ़ता जाता है और साधारण बुद्धिवाले सामाजिकों को सुगम होता जाता है। समासोक्ति या अन्योक्ति नामक अलंकार में अभिधा शक्ति कुछ दूर तक व्यञ्जना शक्ति से संमिलित हो जाती है। काव्यप्रकाशकार मम्मटाचार्य ने समासोक्ति का लक्षण यह किया है—

समासोक्तिः समैर्यत्र कार्यलिंगविशेषणैः ।
व्यवहारसमारोपः प्रस्तुतेऽन्यस्य वस्तुनः ॥

अर्थात् जहां पर कार्य, लिङ्ग अथवा विशेषणसाम्य द्वारा अप्रस्तुत वस्तु से प्रस्तुत वस्तु का प्रतिपादन किया जाय वह समासोक्ति कहलाती है। एक उदाहरण देकर हम प्रकृत विषय पर आते हैं—

क्षुत्क्षामेण कथं कथंचिदनिशं गात्रं कृशं बिभ्रता
भ्रान्तं येन गृहे गृहे गृहवतामुच्छिष्टपिण्डार्थिना ।

अपूर्व: समयमात्र ईशानि भुग्ना श्रियोंधीमिमी
मन्मानो भिगरो न एव शशमामृशोऽय विशाणे ॥

यहां पर कुत्ते के द्वारा नीच प्रकृतिवाले किन्तु मा
से लक्ष्मी के समागम हो जाने पर मनुष्य की क
दशा हुआ करती है, इसका बहुत ही सुन्दर चित्र मार
सामने है।

संस्कृत-साहित्य में समासोक्ति या अन्योक्ति का प्रयोग
प्रचुरतया दृष्टिगोचर होता है, किन्तु अधिकतर मुक्तकों
(अर्थात् फुटकर श्लोकों) में ही। ऐसे संस्कृत में प्रबन्ध
बहुत कम हैं जिनमें अकार से लेकर हकार तक ही
अन्योक्ति का प्रभाव दिखाई पड़ता हो। जो कुछ है,
उनका संक्षेप में विवरण इस प्रकार है। अन्योक्तिप्रधान
से पुराना ग्रन्थ महाकवि अश्वघोष (१ली शताब्दी
ई) का एक खण्डित नाटक है जो कि तालपत्र पर
हुए अश्वघोष के नाटकों की खण्डित मातृकाओं
s.) में से एक है जो कि Professor Dr. Luders
urfan (मध्य एशिया) से प्राप्त हुए हैं। इस के
द्धि, धृति, कीर्ति, बुद्ध भगवान इत्यादि हैं, जो
र आकर अन्य पात्रों की भांति अभिनय करते हैं।
न्तर काल का मोहपराजय नामक एक जैन नाटक

और मिलता है जिनमें कि विवेकचन्द्र, ज्ञानदर्पण, कीर्तिमञ्जरी, प्रताप, पार्श्वदेव इत्यादि पात्र पाये जाते हैं। अन्योक्ति प्रधान नाटकों का चक्रवर्ती प्रबोधचन्द्रोदय नामक नाटक है जिसके रचयिता श्रीकृष्ण मिश्र जी का जीवनकाल लगभग सन् १०४२ ईसवी है। इस नाटक में विवेक मोह, विद्या, प्रबोध, मिथ्या दृष्टि, दम्भ इत्यादि पात्र हैं, तथा वेदान्त का विजय दिखाया गया है। इसका इसका अनुकरण वेङ्कटनाथविरचित संकल्पसूर्योदय, कविकर्णपूरविरचित चैतन्यचंद्रोदय तथा शैवसंप्रदायावलम्बी विद्यापरिणय और जीवानन्दन हैं। अन्तिम नाटकों का निर्माणकाल ईसवी १८वीं शताब्दी है। सिंहावलोकन से यह पता चलता है कि ईसवी पहिली शताब्दी से लेकर १८वीं शताब्दी तक अन्योक्ति प्रधान प्रबन्धों की एक विच्छिन्न सी धारा संस्कृत साहित्य में मिलती है। अङ्गरेज़ी तथा पाश्चात्य साहित्य में भी Mystery Plays तथा अन्य Allegories प्राप्त होती हैं। उन सब में Bunyan विरचित Pilgrim's Progress नामक Allegory हमारे ग्रन्थ से बहुत दूर तक साम्य रखती है। इन अन्योक्तिप्रधान धार्मिक ग्रन्थों की रचना के मूल में यह तत्व घुसा हुआ है—प्रत्येक प्राणी को अपने जीवनसंग्राम में

भाग लेना पड़ता है, प्रत्येक प्राणी को सुख दुःख, तथा साफल्य और नैष्फल्य का सामना करना पड़ता है। हम कालस्रोत में प्रवाहित होते चले आ रहे हैं, हम पहाड़, मकान, प्रकाश, अन्धकार इत्यादि के पास होकर चले आ रहे हैं। कहीं पर स्रोत हलका है, कहीं पर प्रवाह वेगयुक्त है, कहीं पर प्रवाल है। इस प्रकार इस प्रतिक्षणपरिवर्तन शील जीवन में यही प्रश्न स्थिर रहते हैं—मैं क्या हूं? जलबुद्बुद के समान प्रतिक्षण उत्पत्ति और विनाश को मैं क्यों प्राप्त होता हूं? संसार क्या है? हमारा रचयिता कौन है? मेरा क्या कर्तव्य है? इत्यादि। चित्त को बिना इन प्रश्नों के उत्तर मिले शान्ति नहीं, स्थिरता नहीं। दार्शनिक तथा कवि लोग समय समय पर इन प्रश्नों के उत्तर देते हैं, जो कि कुछ काल तक जनता के चित्त को शान्ति प्रदान करने में समर्थ हुआ करते हैं। अन्योक्तिप्रधान काव्य भी ऐसे प्रश्नों के समाधान की चेष्टा हुआ करते हैं। Bunyan ने अपने Pilgrim's Progress की भूमिका में बहुत सुन्दर रीति से उन परिस्थितियों का वर्णन किया है, जिनमें उसने अपने ग्रन्थ को रचा यह पंक्तियां हैं—

When at the first I took my pen in hand,
Thus for to write, I did not understand
That I at all should make a little book
In such a mode. Nay, I had undertook
To make another, which when almost done,
Before I was aware I this began.

And thus it was.—I writing of the way
And race of saints in this our Gospel day,
Fell suddenly into an Allegory
About the journey and the way to glory
In more than twenty things which I set down.
This done, I twenty more had in my crown,
And these again began to multiply,
Like sparks from the coals of fire do fly.
Nay then, thought I, if that you breed so fast
I'll put you by yourselves, lest you at last
Should prove *ad Infinitum*, and eat out
The book that I already am about.

Well, so I did; but yet I did not think
To show to all the world my pen and ink
In such a mode. I only thought to make,
I knew not what. Nor did I undertake

Merely to please my neighbours; no, no
I did it mine own self to gratify.
Neither did I but vacant seasons sp
In this my scribble; nor did I intend
But to divert myself in doing this
From worser thought, which make me d
Thus I set pen to paper with delight.
And quickly had my thought, in black a
For having now my method by the end,
Still as I pulled it came; and so I pennec
It down: until at last it came to be
For length and breadth the bigness whicl
Well, when I had thus put, my ends
I showed them others, that I might see w
They would condemn them or them justi
And some said, Let them live; some Let
Some said, John, print it; other, said, Not
Some said it might do good; others said,
Now was I in a strait, and did not see
Which was the best thing to be done by m
At last I thought, since you are thus di

Bunyan की उपर्युक्त पंक्तियों को पढ़ कर हमें अपने लेखक महोदय के 'मेरा प्रयास' शीर्षक Aplogia का स्मरण हो आता है।

यह पहले ही दिखाया जा चुका है कि अवधूत का चरित्र Evangelist से मिलता जुलता है, तथा पथिक का चित्र यद्यपि कहीं कहीं Neighbour Pliable से कुछ साम्य रखता है, तथापि इस को यदि Mr. Christian का प्रतिबिम्ब कहें तो अत्युक्ति न होगी। बस इतनी दूर तक तो दोनों पुस्तकों में साम्य अवश्य है, परन्तु आगे नहीं। Bunyan के उद्गार तथा वाक्य स्वानुभव-जनित हैं, अवस्थीजी की यह कल्पना-साम्राज्य की सृष्टि है। यद्यपि भ्रमित-पथिक में काम, क्रोध, मान, मद तथा मोह इत्यादि दुर्गुणों का सामना पथिक को करना पड़ता है, तथापि Bunyan के अनुसार Simple, Sloth, Presumption जैसे पात्र Hill of Dificulty, Land of Vain Giory, Valley of Humiliation, Valley of Shadow of Death, Delectable Mountain इत्यादि जैसे स्थान भ्रमित पथिक में नहीं है। इन सब स्थानों का आभास मात्र अवश्य है किन्तु इस प्रकार नामकरण या वर्गीकरण

नहीं है। Bunyan का Pilgrim जीवन यात्रा के प
पर अग्रसर होता है तथा क्रम से भिन्न भिन्न दुःखों
तथा कष्टमय स्थानों का सामना करता हुआ अपने निर्णी
स्वर्ग पर पहुँचता है। भ्रमित-पथिक, किसी उद्देश्य य
लक्ष्य को सामने रखकर नहीं चलता है, वह केवल
भ्रमण शील है। वह एक सागर में भटकने वाली नाव
है, जो कि वायु के थपेड़ों से चाहे जिधर को चल देती
है और समय समय पर अवधूत की कृपा से डूबने से
से बचकर अन्त में अवधूत ही की कृपा से किनारे लग
जाती है।

इन दोनों ग्रन्थों की अधिक तुलना करने की आवश्य-
कता नहीं है। क्योंकि अवस्थी जी के कथनानुसार
उन्होंने अपने ग्रन्थ का Bunyan को आदर्श नहीं
बनाया है।

भूमिका बहुत लम्बी हो चली है, अतः पुस्तक की
भाषा के ऊपर विचार कर अपनी लेखनी स्थगित कर
ंगा। पुस्तक का नाम 'भ्रमित' के स्थान पर 'भ्रमण-
ल' अथवा 'भ्रान्त' रखना उचित था। पुस्तक का आदि-
न निश्चित रूप से ऐसी क्लिष्ट भाषा है कि साधारण
ों की समझ में बिना कोश या Dictionary के

हीं आ सकती। आगे चलकर भाषा अपना प्राकृतिक प धारण कर लेती है। जहां पर प्राकृतिक दृश्य अथवा न्य किसी अवस्था का वर्णन है, वहां पर अवश्य ही ायसी जी का गद्य दण्डी के सुन्दर गद्य के समान हो ठता है—जैसे देखिये मृगयाट्ट वर्णन पृ० १६६, प्रातः ल वर्णन पृ० ७ इत्यादि। ग्रन्थ में न केवल अवतरण तथा द्धरणों की भरमार है, अपितु लेखक के कथनानुसार—

'संस्कृत और हिन्दी साहित्यिक ग्रन्थों के अनुशीलन बड़े बड़े कवियों के सुन्दर सुन्दर प्रयोग मन में जम े हैं। उनकी अनूठी उक्तियां, उनके रूपक और सादृश्य कि कलात्मक वर्णन इत्यादि मेरे स्मरण-पट पर गुप्त रूप अङ्कित होते रहे हैं'। एक या दो उदाहरण देना यहां पर्याप्त रहेगा—

'भगवान अहिमरिकिरण ने अनुशलाकाओं की मित सुवर्णसम्मार्जिनी की भांति अपनी सहस्रों चेतियों द्वारा आकाश-प्राङ्गण से पुष्प-समूह के अनु- ाकारी नक्षत्रों को बुहार कर एक ओर कर दिया है। (७ तथा ८)

यह कादम्बरी के निम्नलिखित भाग का अविकल बिम्ब है—

प्रतसल्यक्षिकान्नुगारस्नाभितापामिनीमितिभिसि
ागगात्मकासंमाभिंनीभिरिव मधुपार्वमतोगगन

'आपके चरणों में चोट तो नहीं आ
वाक्य हमको दुर्वासा के पदाघात से व्यथ
विष्णु के कथन का कुछ स्मरण कराता
संघर्षण से मेरी त्वचा जड़ होगई है। आप
अवश्य छिल गये होंगे' (पृष्ठ १३) किन्तु इस
यदि कोमलता आपको देखनी हो तो पुलक
चरण छिल जाने का भय दिखाते हुए किसी
निम्नलिखित उक्ति को देखिये–

दासे कृतागसि भवत्युचितः प्रभूणां पादप्रहार इति सुन्द
उग्रत्कठोरपुलकाङ्कितकण्टकाग्रैर्यद्भिद्यते तव पदं ननु स

'अग्निहोत्रधूम्र की लेखा की भांति मालायमान
कपोतों की पंक्तियां स्थित थीं!' (पृष्ठ१९) यह मा
संस्कृत काव्यों में दृष्टिगोचर होता है। 'वेदाभ्यास
मति वाले, विषयकौतूहल से अनभिज्ञ ऋषियों ने
शास्त्रों का निर्माण किया है। ऐसी सुन्दर
महिला की कल्पना भी विचारातीत होगी' (पृ
यह विचारसरणि निम्नलिखित कालिदास
से कुछ थोड़ी ही भि

वेदाभ्यासजडः कथं नु विषयव्यावृत्तकौतूहलो
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः ॥

शास्त्रों की परस्परविरोधिनी आज्ञाओं का समन्वय तथा अहिंसा सत्यास्तेय इत्यादि नीतितत्त्वों का निर्णय— इस पुस्तक में इस विषय को पढ़ने से चित्त में लोकमान्य विरचित 'गीता रहस्य' का स्मरण हो आता है।

पुस्तक के अन्दर बहुत सी अशुद्धियाँ रह गई हैं। संस्कृत के अवतरणों में तो भरमार है, शेष गद्यभाग में भी हैं। कह नहीं सकते कि भारतवर्ष में वह समय कब आवेगा जब पुस्तकें शुद्ध छपने लगें। मैंने बहुत सी अशुद्धियों को ठीक कर दिया है, कुछ तो उनमें से अशुद्धिपत्र में दिखा दी जायँगी, शेष रहीं वे दूसरे संस्करण में ठीक हो जायँगी-ऐसी आशा है।

२६ अप्रैल १९२९ }
सनातन धर्म कालेज, } हरदत्त शर्मा
कानपुर। }

भ्रमित पथिक

प्रभात हुआ। प्रयाण के लिए मैं पुनः प्रस्तुत हुआ। उथल-पुथल करने वाली शर्वरी की प्रमादकारी निद्रा ने मुझमें विशाल परिवर्तन कर दिये थे। मैं कल कौन था, यह भी भूल गया। मेरी स्थिति कल थी अथवा नहीं, इसके ज्ञान का भी ध्यान मुझमें न रहा। परिस्थितियां नितान्त परिवर्तित प्रतीत होने लगीं। मेरी स्थिति उस झटित-उद्बोधित, अर्द्धनिद्रित, स्वल्पमुकुलितनयनव्यक्ति की भाँति थी, जिसका सूक्ष्मतमकौशेयतन्तुनिर्मित, सद्यःअनुभूतस्वप्नजाल उद्बोधन के झटके से उलझ गया हो। स्मरण-मन्दिर अन्धकारमय था। चिरअनुभूत क्रीड़ास्थली के पूर्व परिचित अभिनेताओं के नवीन संस्करणों का ज्ञान भी मुझे न था। सौखशायनिकों को भी मैं पहचान न सका। हाँ, एक सहचरी का विस्मरण न हुआ था। उसी ने इस नवीन संस्करण को अर्वाचीन वातावरण के प्राङ्गण में नृत्य करने के लिए पुष्ट किया। मेरी निरन्तर अटनशीलता ही उस सहचरी की प्रसवकारिणी है।

भ्रमण की फिर सूझी। उठने का प्रयास किया। मन ही मन उठा और बैठ गया। मैंने इस क्रिया को स्वप्न का इन्द्रजाल समझा। शुभ्र सुसज्जित शयनागार की झिलमिलाती हुई प्रकाशावलि को मैंने विभावरी का उत्कर्ष समझा। पूर्वाभिमुखी खिड़कियों से प्रविष्ट अंशुमालि किरण की रश्मियों को मैंने शुभ्र ज्योत्स्ना समझा। सोचने लगा, रात बीत ही जायगी। शीघ्र ही पक्षियों के कलरव की मधुर तान ने कर्ण-विवरों में उषा का सन्देश पहुँचाया। जी न माना, बिछौने को छोड़कर पृथ्वी पर आया।

मैंने खड़े होने की चेष्टा की किन्तु तुरन्त ही लड़खड़ा कर गिर पड़ा। मैंने बोलना चाहा किन्तु मुँह में ताला बन्द था। अपनी निर्बलता पर मैं रोया और बार-बार रोया, किन्तु प्रयास करना एक क्षण के लिए भी मैंने परित्याग न किया। कुछ और समय बीता। अपने प्रयास में और भी प्रयत्न किया। साधन थे, पर उनमें शक्ति न थी। बहुत समय बीत गया। समय आया, परिस्थितियाँ अनुकूल हुईं। इच्छा-प्राबल्य-जनित-क्रिया-शीलता से साधनों में सामर्थ्य उत्पन्न हुआ। प्रयास में सफलता मिली।

नेत्र देखने लगे, कान सुनने लगे। पैरों ने प्रेम-परि-

ग्रथित-पुरुषों के दृष्टि पाँवड़ों पर पैर रखना प्रारम्भ कर दिया। नासिका में भी सुगन्ध और दुर्गन्ध का विवेक उत्पन्न हो गया। रसना स्वादु की परिभाषा समझने लगी। कानों में मधुर कलरव और कर्कश नाद की विभिन्नता के ज्ञान की क्षमता उत्पन्न हो गयी। सर्वतोन्मुखी अन्तर्हित मेरी सारी शक्तियों का प्रस्फुटन हो गया। प्राणदायिनी और विवेकहारिणी निद्रा के नशा का अन्त हुआ। मेरे लिए पुनः प्रभात हुआ। मैंने फिर प्रस्थान किया।

मार्ग में कुछ दूर चल कर भूख लगी। यत्र-तत्र दृष्टि-निक्षेप की। कुछ फल-फूल खाये। बुभुक्षा और पिपासा की वृद्धि हुई। और भी अधिक भोजनों की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। एक अनुभवशील सह-पथिक ने चार अनोखे व्यञ्जनों का परिचय दिया। उनकी सुगन्धि सारे विश्व में व्याप्त थी। प्रथम ग्रास के पश्चात् मेरी मुखाकृति से सहचर ने यह अनुमान किया कि अकिञ्चन होने के कारण मैं ऐसे स्वादिष्ट भोजनों से अनभ्यस्त हूँ। किन्तु शनैः शनैः स्वादु-शक्ति का विकास हुआ और फिर यही मेरे नित्य के आहार हो गये। तृषा का प्रादुर्भाव हुआ। अठारह घूँट जल की आहुति दी। जल न था, हिमखण्ड के सदृश शीतल, द्रवीभूत-

र्यमणि की भाँति स्वच्छ और सुगन्धित पुष्प-
थिक सुरभित स्वर्ग का अमृत था। इसकी
वापिनी सुगन्धि ने दूर-दूर के भ्रमर लुब्ध क
मेरे चित्त में भी शान्ति हुई। पथिक पथिकत्व
हो गया। नित नयी क्षुधा और तृषा की तृ
नित नये आयोजन होने लगे।

कुछ मित्रों ने षट्रस रञ्जित पक्वान्न दि
स्वादु शब्दातीत था। पाक-शास्त्र-विशार
विरुदावलियों में इन पक्वान्नों को अखि
विचारशील व्यक्तियों का स्वादिष्ट भोजन थ
भी ऐसी ही थी। मुझे भी बहुत अच्छे ल
दूसरे पथिक ने—जिसने अपने आपको
कुशल प्रख्यात कर रखा था—प्राचीन प्र
दो पक्वान्नों को मेरे सम्मुख प्रस्तुत किया।
गर्व था कि इनमें अनेक प्रकार के उप-प
स्वादु वास्तव में अनोखा था। इसकी
कीर्ति ने संसार को चलित कर रख

उपर्युक्त दो पक्वान्नों में एक पक्वान्न
...ोये से बना था। उस खोये
... ...ार्य है। सा

पृथक्-कार-वैज्ञानिकों ने इसके तत्व का अनुसन्धान किया पर वे किसी निष्कर्ष पर न पहुँचे।

कहा जाता है कि एक परम निपुण दोग्धा ने अनन्त काम-धेनुओं को दुहकर इस खोये को प्रस्तुत किया था इसे खाते ही रसना में मधुरता का विवेक उत्पन्न हो गया इस खोये में विवेक-शक्ति के उत्पादन का अद्वितीय गुण था। मैं इसका निरन्तर सेवन करने लगा। मुझे जान पड़ा मानो मेरे समान भ्रमित पथिक की यात्रा में इसका सेवन पथ-प्रदर्शन का काम करता है।

अनायास गेरुआ वस्त्रधारी दो कपाली मिले इनके कमण्डलों में क्षुधा-तृप्ति की सामग्री थी। लोचन ललचाये, रसना में जल आ गया। इन कापालिकों की यह प्रतिज्ञा थी कि वे निरामिष भोजन खाते और खिलाते थे। दोनों कापालिकों के साथ दो दो शिष्य थे एक का मुँह पीला, नाक चपटी, नाटा-सा शरीर था नशे के झोंके में वह ऊँघ सा रहा था। दूसरे की आकृति भी वैसी ही थी। परन्तु वह अधिक सजग, जाग रूक, उन्नत कपाल और युवावस्था के मद से उन्मत्त था ऐसा प्रतीत होता था कि वह किसी प्रकार का मादक द्रव्य नहीं स्वीकार करता। तीसरा शिष्य नम्र और चौथा

-वस्त्र धारण किये था । दोनों मूत्र कर अस्थि-
र-अवशेष हो रहे थे । किन्तु तीसरे और चौथे
आकृति और कापालिकों की आकृति में कोई विशेष
न्तर न था । दोनों कापालिकों के सम्बन्ध में कहा जाता
कि इन्होंने निरामिष भोजन बनाने का विधान एक ही
स्थान पर एक ही समय अपने अपने गुरुओं से सीखा
था । मैंने बड़े विवेक के साथ इनके करों से भोजनदीक्षा
ग्रहण की ।

पश्चिम-मार्ग से आते हुए कुछ नवीन पथिक दृष्टि-
गोचर हुए । रङ्ग-रूप में ये कर्पूर की भाँति उज्वल थे । वे
शिष्य लोग मुझे अपनी पाकशाला में ले गए । कुर्सी
में बैठकर टेबुल पर मैंने उनके साथ काँटे-छुरी से भोजन
किया । कहा जाता है कि काँटे का मुकुट रखने वाले प
लंगोटी बाबा के ये लोग चेले हैं । भोजन करने के पश्चा
बाबा की बुद्धि की भी मैंने प्रशंसा की, जिसने अ
भोजनों से सारे संसार को मोह रखा है ।

और आगे बढ़ा । बुभुक्षा फिर तीव्र हो उठी । स
लुटेरों का एक जत्था दृष्टिगोचर हुआ । उनके मुकुट
कर रक्त-रंजित थे । उन्होंने विद्युत् के आवेग से
आक्रमण किया और मुझे आक्रान्त कर

मैं बहुत भयभीत हुआ। उन्होंने खड्ग-हस्त होकर मेरे मुँह में अपना भोजन ठूँस दिया। बुभुक्षित होते हुए भी इस प्रकार के भोजन मुझे स्वीकार न थे। अतएव पहले मैंने उनके इस अशिष्ट व्यवहार का प्रतीकार करना चाहा। परन्तु उनके बलात्कार से एक ग्रास मुख में पहुँच चुका था। अतएव मुझे इस आक्रमण के सम्मुख मस्तक झुका देना पड़ा। भोजन करते समय मुझे जान पड़ा कि भोजन वास्तव में इतना बुरा न था जितना कि उसके खिलाने वाले बुरे थे। कुछ वस्तु तो विशेष रूप से उत्तम थी। कुछ मित्रों ने बताया कि इस भोजन का यह प्रभाव है कि जो व्यक्ति इसे खाता है वह उन्मादित होकर यह भोजन दूसरे को खिलाने का प्रयत्न करता है। किन्तु इस भोजन का मुझ पर इस प्रकार का कोई प्रभाव न पड़ा। हाँ, इस भोजन के करने के पश्चात् उन पागल ठगों के प्रति मुझमें कुछ समता और सहानुभूति का भाव उत्पन्न हो गया।

इस नवीन आतिथ्य से मैं अत्यन्त भयभीत हो गया और कुछ भ्रमित-सा होकर एक नीम के वृक्ष की रम्य छाया में सो गया। रात-भर सोता रहा। भगवान अहिर्दिर किरण ने अनुरागाबरणों की निर्मित सुवर्ण सम्मा-

जिनी की भाँति अपनी सहस्रों श्रीधितियों द्वारा आकाश-प्राङ्गण से पुष्प समूह के अनुकरणकारी नक्षत्रों को बुहार कर एक ओर कर दिया। नृत्य-सन्देश दायी समीर द्वारा सञ्चालित पल्लवों के स्थानान्तर होने के कारण, परिवर्तित-पतन-प्रदेश सूर्य-रश्मियों की उष्णता का मुझे अपने मुख पर आभास हुआ। रोमन्थमान धन महिषों के फेन से युत, प्रकृति का अपकार-भूत प्रातः कालीन जलकण समूह का अपहरणकारी; सद्यःप्रस्फुटित सुगन्धित पुष्प-पराग से सुरभित, वन-पशुओं को सजग करता हुआ, प्रातःकालीन मातरिश्वान् ने जागरण का संदेश दिया। मैं उठा और हाथ-मुँह धोकर प्रयाण के लिए प्रस्तुत हुआ। चाल में वह वेग न था। बार-बार चौकन्ना हो उठता था। जहाँ कहीं चौरहा मिलता था, बड़े विवेक के साथ अपना मार्ग निश्चय करता था, मानो मुझे अपने निर्दिष्ट स्थान तक निश्चित रूप से पहुँचना है।

क्षुधा-तृप्ति की मृग-तृष्णा में इतने दिनों तक भ्रमते-भ्रमते मस्तिष्क की इतनी जागरूकता का मुझे भी गर्व हो गया कि मार्ग के असाधारण से असाधारण प्रलोभन मुझे पथ भ्रष्ट न कर सकेंगे। मार्ग के सहगामी पथिकों को जब कभी मैं स्वयं के भोजन करते देखता तो दूर होने पर

भी मैं उनके निकट जाकर उन्हें समझाता कि इस प्रकार समय नष्ट करना मूर्खता है। जो मेरी बातों की उपेक्षा करते उन्हें दो-चार खरी-खोटी सुनाकर यह चेष्टा करता कि मेरे अनुभूत वचनों को वे लोग वेद-वाक्य मान लें। "लोगों को भोजन की आवश्यकता है या नहीं" गुरुत्व के मद में आकर यह सोचना भी मेरे लिए कभी-कभी कठिन हो जाता था। दूसरों का सुधार करने की उत्कण्ठा अत्यन्त प्रबल हो गयी और अपनी यात्रा को कुछ दिनों के लिए स्थगित करके लोगों की कलुषित भावनाओं को अपने वचनामृत से स्वच्छ करने की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। मेरे अनुचरों की संख्या सहस्रों तक पहुँच गयी। स्थान-स्थान पर मेरी अर्चना होने लगी। बड़े-से-बड़े व्यक्ति भी मेरे स्वागत का अर्घ्य उपस्थित करने लगे। दूर-दूर से लोग मेरे दर्शनों के लिए आने लगे। चित्त प्रसन्न हुआ। आमोद-प्रमोद के प्रवाह मस्तिष्क में कल्लोल करने लगे। किसी भी निम्न-जन्मज को मैं अपने पास न बैठने देता था। मेरे गौरव के प्रतिकूल यदि कोई एक शब्द भी उच्चारण करता तो मेरे शिष्य उस पर पक्षिराज से अधिक वेग से टूट पड़ते। मैंने गेरुआ वस्त्र धारण कर लिया था। एक निकटवर्ती शिष्य ने कान में

छिद्र करके शीशे के छल्ले पहना दिए। दूसरे ने हाथ में चिमटा दे दिया। इस वेश-भूषा ने वास्तव में मुझमें कुछ परिवर्तन कर दिया।

इस वेश में मेरा मान अधिक बढ़ गया। सहस्रों स्त्रियाँ दर्शन-हित आने लगीं। मैंने उन्हें दर्शन देने से इन्कार कर दिया। विद्वद्जन अपनी-अपनी शङ्काएँ लेकर मेरे समीप उपस्थित होते और मैं तुरन्त उनका समाधान किया करता। उच्चकोटि के विद्वान् आते और सन्तोष के साथ लौट जाते। भीड़ बढ़ने लगी। विश्व के कोने-कोने से विद्वानों ने आकर अपनी शङ्काएं निवृत्त कराईं। प्रशंसकों की उत्तरोत्तर वृद्धि देखकर मैंने यह नियम कर लिया कि मेरे पास केवल वही सज्जन आयें, जिनको किसी विश्वविद्यालय की कोई उपाधि मिली हो। बहुधा मैं बड़े-बड़े व्यक्तियों को धक्के मार कर निकलवा दिया करता था। सारे संसार के मनुष्य मुझे मूर्ख देख पड़ने लगे। बड़े-बड़े धुरन्धर लब्ध-प्रतिष्ठ कवि, सुलेखक, गणितज्ञ, नैय्यायिक तथा तत्त्वदर्शी व्यक्तियों को मैंने मूर्ख बनाकर अप्रतिष्ठा के कूप में सर्वदा के लिए ढकेल दिया। खूब वाह-वाह हुई। लोगों को मूर्ख प्रमाणित करने में मैं महात्मा सुकरात से भी बढ़ गया।

खोये के पक्वान्न का प्रतिदिन सेवन करने के लिए मैं अपने शिष्यों को शिक्षा दिया करता था। यद्यपि मुझे स्वयं उसका सेवन करने के लिए अवकाश न था। शिष्यों की अवस्था विचित्र थी। बन्दरों को अदरक नहीं अच्छी लगती। मैंने देखा कि चिमटा बजाना और चरस पीना ही उन्हें अधिक प्रिय था। अपनी साधु-भाषा में वे इसे शीघ्र-बोध कहा करते थे। मुझ पर उनकी भक्ति और श्रद्धा है, इस पर भी मुझे कभी-कभी सन्देह हो जाता था। मैं देखता था कि यदि किसी दिन उन्हें भण्डारे से चरस न मिलती तो फिर दूसरे दिन उनके दर्शन न होते। शिष्यों की संख्या निरन्तर बढ़ती ही जाती थी। मेरे एक शिष्य ने मुझे एक बार यह समझाने की भी चेष्टा की, कि शिष्यों की बाढ़ अच्छी नहीं। वह एक अवधूत शिष्य था। वह बहुधा अपना बेसुरा राग अलाप दिया करता था। इसे मैंने मूर्ख समझकर इसकी बात को टाल दिया। रात्रि में सोते समय कुछ विचार अवश्य उत्पन्न हुए। परन्तु बेफिक्री बहुत थी। झट नींद आ गयी। मुझे एक स्वप्न हुआ। स्वप्न में एक अवधूत अचानक देख पड़ा। उसने मेरी भूरि-भूरि प्रशंसा की। साथ-ही-साथ उसने मुझे आदेश दिया कि मैं अपनी

महत्ता का प्रदर्शन इस निन्दनीय ढङ्ग से न किया करूँ।
मुझे अन्तिम शब्द अच्छे न लगे। मेरे नेत्र खुल गये।
अभी अर्द्ध-रात्रि थी। मैं उस अवधूत को पहचान गय
था। यह वही मेरा पुराना शिष्य था। उस दिन जब मैं
भण्डारी ने शुभियोध वितरण करने में विलम्ब व
दिया था, तो अन्य सब शिष्य चिमटा ले-लेकर चल
हो गये थे। केवल यही एक मेरे पास रह गया था।
इससे तनिक भी प्रेम न करता था। किन्तु यह इतना
अधिक नम्र तथा सुसेवक था कि मैं इसकी उपेक्षा न
कर सकता था। किन्तु उसने मुझे परामर्श देने का
साहस किया, यह अपराध उसका अक्षम्य था। मैं गुरु
और यह शिष्य! इसको कैसे साहस हुआ कि मुझसे
कुछ कहे। शीघ्र ही मैं सोचने लगा कि यह तो कमर्ल
ओढ़े मेरे पैरों के पास पड़ा है, मुझे आदेश कौन दे रह
है। मुझे भ्रम हो गया होगा। मैंने पुनः नेत्र खोलक
देखा। अर्द्ध-निद्रित अवस्था में मैंने फिर उसी अवधूत
अपने सम्मुख देखा। इस बार मैंने उसे भले प्रकार पहच
लिया। झट उठकर उस मूर्ख के एक ठोकर दी। उ
तुरन्त निर्निमेष होकर मेरे चरणों को नम्रता के स
पकड़ लिया, और भक्ति-भाव से पूछने लगा कि अ

चरणों में चोट तो नहीं आयी। आप पादत्राण धारण करके चरणों का प्रयोग किया कीजिये। मृग-चर्म के संघर्षण से मेरी त्वचा जड़ हो गयी है। आपके कोमल चरण अवश्य छिल गये होंगे। इसके इतने कातर वचन सुनकर चित्त का एक अञ्चल करुणा की वायु से क्षुब्ध हो उठा। किन्तु मद के प्रचण्ड झोकों ने नाम मात्र के लिए अवशेष अनुकम्पा की क्षीण ज्योति को सर्वदा के लिए विदा कर दिया। मैं वेग से कह उठा—ऐ गुरु बनने वाले शिष्य, यहाँ से पलायमान हो। यह कहकर अर्द्धचन्द्र द्वारा उसे कुटी से निकाल दिया। अन्य मदकची शिष्य इस पर बहुत प्रसन्न हुए। उन्हें पूरा विश्वास हो गया कि अब उन्हीं का साम्राज्य है, और मनमाना शीघ्रबोध उड़ेगा। बुझते हुए दीपक की अन्तिम ज्योति की भाँति एक बार पुनः मेरे हृदय में पश्चाताप प्रज्वलित होने का प्रयत्न करने लगा। परन्तु सोने समय कभी प्रकाश अच्छा नहीं लगता। निद्रा का साम्राज्य स्थापित हो गया और मैं शीघ्र खर्राटे भरने लगा।

अनायास जन-समूह के एक महान-चीत्कार ने मुझे उद्बोधित किया। ऐसा मालूम हुआ कि कुछ डाकुओं ने मेरी कुटी को आक्रान्त कर लिया है। मैं शीघ्र उठ खड़ा

हुआ। चित्त में कोई विशेष उथल-पुथल न थी। मेरे पास कहाँ की सम्पत्ति है जो चोर मेरी कुटिया, घेरेंगे। इस सान्त्वना-वायु ने सहसा प्रज्वलित भय-दीप-शिखा को मन्दप्राय कर दिया। मैंने प्रबल स्वर से अपने शिष्यों का आह्वान किया। किसी ने उत्तर न दिया। पीछे से ज्ञात हुआ कि वे आततताइयों की आहट से ही पलायमान हो गए थे। कई बार बुलाया कोई न बोला। आक्रमणकारियों के कुल्हाड़े किवाड़ों पर बजने लगे। शीघ्र ही चिमटाधारियों के झुण्ड-के-झुण्ड ने सहसा कुटी में प्रवेश किया। मुझे कुछ न सूझा। मैंने अर्द्धस्फुट स्वर में कई बार कहा कि मेरे पास कोई धन नहीं है। मालूम हुआ कि उनके कर्ण-विवरों में रन्ध्र ही नहीं हैं। दो अन्य शेष इन्द्रियाँ उनकी अत्यन्त शक्ति-शालिनी प्रतीत होती थीं। उन आततायियों में से एक ने उत्तुङ्ग पर्वत से स्खलित जल-प्रपात के वेग से मुझे पर्यङ्क-च्युत कर दिया। बड़ी निर्दयता के साथ मेरे ऊपर प्रहार किये गये। अन्य आगन्तुकों से आध हाथ ऊँचा, कज्जलगिरि की भाँति असित-कलेवर वाला लौह-पाणि एक विशिष्ट डाकू की आज्ञानुसार अन्य डाकू कार्य करते थे। क्रूरता में यम सेना को ये लोग पराजित कर रहे थे। मालूम होता

था कि मघवा के वज्र से छिन्न-पक्ष होकर प्रतिस्पर्धी कज्जल-पर्वत-समूह अँधेरी रात्रि में गौतम की कुटी ढूँढ़ रहा है। नेता की आज्ञा सब बड़ी तत्परता से मानते थे। उसने कहा कि वैजयन्ती-माला लाओ। मैंने सोचा यह क्या? लोग अवश्य मुझे विजयमाला पहनाने में अपना गौरव समझते थे। किन्तु मुझे इतना प्रतारित करके वैजयन्ती-माला पहनाने का क्या अभिप्राय! तुरन्त ही भेद खुल गया। मेरे वृषभ-स्कन्धों पर चर्म-पादत्राण का हार डाल दिया गया। मैंने इसका प्रतिरोध करना चाहा किन्तु मेरे हाथ-पैर बंधन युक्त कर दिये गये थे। एक कृष-गात कौपीनधारी आततायी ने मूर्तिमान काल की भांति लम्बी छुरिका लेकर मेरी नासिका की ओर आक्रमण किया। किन्तु नेता के सङ्केत से उसने अपना क्रूर-कर्म स्थगित कर दिया। मैंने इतना कहते सुना कि इसने भी तो गुरुदेव को नासिका विहीन करवा दिया था। स्मरण-मन्दिर को पुनः पुनः खटखटाने के पश्चात् मुझे स्मरण आया कि वास्तव में मेरे कुछ शिष्यों ने एक व्यक्ति का भारी अपमान किया था और उसकी नासिका का भी अपहरण किया था। सारा प्राचीन क्रूर इतिहास चलित-चित्रकला के प्रदर्शन की भाँति मेरे

स्मरण-पट से गुज़र गया। मेरे शिष्यों ने क्या
नहीं किए! ख़ैर, अब क्या? यह मैं तुरन्त समझ
ये आततायी अपने गुरुओं के अपमान का प्रती
आये हैं। मैं लकुटवत् पृथ्वी पर गिर पड़ा।
कर अपने अपराधों की क्षमा-याचना करने लगा
पर नाक तक रगड़ी। प्राण-रक्षा की प्रचण्ड वायु ने
मान की मन्द अग्नि को शीतल कर दिया था। इन आग
ने मुझे बहुत क्रूर शब्द कहे। कुछ मेरे निजी शि
इनमें सम्मिलित थे। मेरी बड़ी हँसी उड़ाई गयी।
आँखें खुलने लगीं। शिक्षा की कड़ुवी गोली अपमान
चीनी में लपेट कर मेरे गले में ठूंस दी गयी। पश्चाङ्गुलि
का ऐक्य साध कर इन शत्रुओं ने कई बार मेरा
प्रताड़ित किया। आज पहला दिवस था कि ऊपर
करने का साहस करना भी मेरे लिए कठिन था। मैं
आज अनुभव किया कि नतमस्तक रखने से कितन
ग्लानि होती है। मस्तक उठाना मानों प्राण पखेरुओं के
लिए कलेवर-पिञ्जर का कपाट खोल देना है। जिस
अवस्था में मैं औरों को देखकर विनोद किया करता
था उसी अवस्था में अपने को पाकर अवाक् हो गया
मेरे नेत्र, जो सर्वदा ऊपर ही

मानों पृथ्वी में विलीन होना चाहते थे। महाराजा निमि का इन पर सर्वदा वास होने के कारण मानों इन्हें यह व्यवस्था मिली है कि अपने स्वामी की कुलपद्मिनी कीर्तिध्वजा प्रसारिणी पृथ्वी-विलीना वसुन्धरा-कन्यका का अन्वेषण करें। लज्जा भी इन आततायियों के भय से मेरा साथ छोड़कर चली गयी। धोखे से एक बार उन्नत मस्तक करने की चेष्टा की। तुरन्त ही वज्र के वेग से उनका हस्तदण्ड मेरी नासिका पर पड़ा। मुंह हाट नीचा हो गया और नेत्र धूलि में गड़ गए। मानों वे अधिक तत्परता से लज्जा रूपी रत्न को ढूंढ़ने लगे। मैं संज्ञाहीन हो गया। पश्चात् उन आततायियों के क्रिया-विधान में मेरा कोई सचेत साक्षित्व न रहा।

रात्रि गए हुए। और उसी के साथ-साथ मेरे दुख की अन्धकारमय-रात्रि का भी विनाश हो गया। मैं बिल्कुल एकाकी था। नाक में पीड़ा वेग से हो रही थी। पैर और हाथ वैसे ही बँधे थे। अपमानकारी हार अभी ग्रीवा में पड़ा था। पहली चिन्ता यह हुई कि कोई मुझे देखता तो न था। नयनों की दर्शन-शक्ति को सूर्य की रश्मियों ने चकाचौंध कर दिया था। रात्रि में पुञ्जीभूत तम-समूह का निराकरण करने में सूर्य भगवान रत थे। चकाचक

अपनी चिरदिनी पत्नी से सम्मिलन के लिए विह्वल
प्रातःकालीन उषा की लोहित किरणें भी मानो
निकट आने में तिरस्कार अनुभव करती थीं। उन्हें भ
कि मेरी नासिका के रक्त की भाँति कहीं उनकी अरु
भी कलुषित न हो जाय। प्रातःकालीन शीतल-मन्द-सुग
वायु भी मुझे तिरस्कार करके केवल वृक्षों के उच्च
पल्लवों को ही सञ्चालित कर रही थी। निकटवर्ती न
के प्रवाह के कर्कश शब्द में तनिक भी अन्तर न था
मानों अपगा का यह प्रवाह अब भी मुझे यह सन्देश देत
था कि अन्य मृत शवों की भाँति मुझे भी प्रवाहित करने
के लिए वह शक्ति-सम्पन्न है। कूल-स्थित वृक्षों को समूल
नष्ट करने में यह इतना निरत था कि उसे मेरी दुःख-
गाथा सुनने का समय कहाँ था। प्रकृति का छोटा प्राणी
चिंउटी-समूह भी अपने अण्डों को इधर-उधर ले जाने में
अनुरक्त था। और मेरी ओर ध्यान भी न देता था। मेरी
ही रोटियों से पला हुआ, धूप-छांह से मेरी ही कुटी में
आत्म-रक्षा करने वाला झींगुर भी अन्य दिनों की भाँति
वही मस्ती की झनकार कर रहा था। शृगाल मृत-शवों
के निकट भोजनों के लालच से खड़ा था। किन्तु मृत-तुल्य
होने पर भी अपमान की दुर्गन्धि ने मेरे निकट के वाता-

चरण को इतना दूषित कर दिया था कि वह भी इधर आना स्वीकार न करता था। सर्प काटने के लिए भी मेरी ओर न आता। कोयल उतनी ही मस्ती से कूक रही थी। उसको मेरा क्या ध्यान! निकटवर्ती वृक्ष के खोखले में पक्षी उसी तत्परता के साथ अपनी चञ्चु रगड़ रहे थे, और कीड़ों को अर्ध-चर्वित करके नीड़-स्थित पक्षि-शावकों को दे रहे थे। केकी-कलाप मण्डल बनाकर नित्य की भाँति नृत्य कर रहा था। शुक समूह अपने-अपने नीड़ों से निकल कर गोल बाँधकर दक्षिण की ओर जा रहे थे। एक ओर मुझसे उपेक्षा करके निकटवर्ती वृक्षों पर, अग्निहोत्र धूम्र की लेखा की भाँति मालायमान पारावत-कपोतों की पंक्तियाँ स्थित थीं। ऐसा प्रतीत होता था मानों वायु के निरन्तर प्रतारण से पीड़ित, अवकाश प्राप्त करके, प्रातःकाल, मेघमाला ने उत्तुङ्ग पर्वत-स्थित वृक्ष समूहों की शिखरों को वायु का निवास-स्थान समझ कर अर्धसुप्त अवस्था में ही उसके गढ़ को घेर लिया है। बक-समूह भी अपने कार्य में रत था। सरिताभिमुखी उनकी पंक्तियों की प्रगति वर्षा कालीन स्रोत-प्रवाहों का स्मरण दिलाती थीं।

अचानक एक छोटा-सा पक्षी वेग के साथ मेरे पास

आकर गिर पड़ा। उसी क्षण विद्युत् के वेग से एक महान पक्षी उसे झपट कर उठा ले गया। शरणागत की इतनी रक्षा भी मैं न कर सका। मुझे बड़ा खेद हुआ। मेरी यह दीन दशा! मुझे हाथ-पैर बँधवाने में इतना कष्ट न हुआ था, चर्म-माल धारण करने में भी इतना खेद न हुआ था, आततायियों के प्रहार से रक्त देखकर भी इतनी ग्लानि न हुई थी जितनी उस शरणागत पक्षी की रक्षा न कर सकने के कारण हुई। हा भगवन्! क्या आपने इसीलिए मुझे बन्धन में डाला था? क्या अपनी अकृपा प्रकट करने का आपके पास कोई और साधन न था? मेरी यह दयनीय दशा! केवल एक कौपीन अवशेष था। पीछे हाथ बँधे हुए, जूतों का हार डाले पड़ा हूं। प्रकृति का कोई भी प्राणी मेरी ओर तनिक भी आकृष्ट नहीं होता! नदी का वही वेग है। पक्षियों की वही प्रसन्नता है। वन-मृगों की वही अस्थिरता। भौंरों की वही भनभनाहट! पुष्पकलियों का वही चिटखना। मोरों का वही नाच! कोयल की वही कूक। बन्दरों की वही दौड़-धूप। मृगशूकरों का वही पर्यटन। प्रातःकाल की वायु द्वारा वृक्षों का वही मन्द सञ्चालन। मेरे इस परिवर्तन का किसी पर भी प्रभाव नहीं पड़ा। ये मूर्ख प्राणी!

ाँ है तेरी शान-शौकत ? कहाँ हैं तेरे शिष्य ?
। भंडार कहां चला गया ? तेरी विद्वत्ता कहां है ?
। मान-ऐश्वर्य कहां है ? किसके लिए तुझे गर्व था ?
। थाट जोड़ने वाले अनुचर कहां हैं ? मानव महत्ता
यह अस्थिरता ! परिस्थितियों की यह प्रतिकूलता !
। वास्तव में बहुतों का अपमान किया था। अहङ्कार
मद ! तूने क्या नहीं मुझसे कराया ? अब इस निर्जन
: में कौन है तेरा साथी ? किसे बुलावेगा ? गला भी
। गया है। इस समय यदि मेरा अवधूत शिष्य ही होता
सूखे ओठों में थोड़ा जल ही डालता। परन्तु इस
ागे ने तो उसे पहले ही रुष्ट कर दिया था। मिले तो
ो के चरणों पर मत्था रगड़ूँ। हाय परमेश्वर !
न मालूम कितनी देर में निराशा की निद्रा में पड़ा
। आँखें खुलीं तो देखा कि मेरा अवधूत शिष्य
मुख उपस्थित है। उसने पहले ही से मेरे गले का हार
ार कर कहीं छिपा दिया था। हाथ-पैर भी खुल गए
सचेत होते ही मैं उसके चरण-चुम्बन के लिए
ीर होकर दौड़ा। उसने हाथ पकड़ कर कहा, "गुरू
आप क्या करते हैं !" क्या आपका चित्त अभी स्वस्थ
? मैंने कहा यह कुछ नहीं, मुझे क्षमा करो।

वह कुछ न बोला और कहने लगा आइए भोजनों के लिए कुछ प्रबन्ध करें। मैंने उसे स्वीकार कर लिया। एक स्थान पर थोड़ी देर चल कर उसने मुझ से शीशे के थाले उतार कर फेंकने का आग्रह किया। मैंने तुरन्त उसकी आज्ञा मान ली। चिमटा कुटी ही में रह गया था। अवधूत ने झट अपने पास के सुन्दर वस्त्र मुझे पहनने को दिये। मैं उन्हें स्वीकार करने में हिचकिचाता रहा। परन्तु उसकी आँखों में इतना प्रकाश था कि मैं भयभीत होकर उसकी बात मान गया। एक स्थान से उसने भोजन भी मँगवा दिये। पुनः उसने मेरी यात्रा का स्मरण दिलाया। यह भी मुझे उससे ज्ञात हुआ कि मैं अपने मार्ग से बहुत दूर आ गया हूं। मैंने कहा भगवन्! मुझे घर का सीधा मार्ग बतला दीजिए। उसने अपनी तर्जनी उठा कर एक दिशा की ओर सङ्केत किया और कहा कि इसी मार्ग पर सीधे चले आइए। इधर-उधर दृष्टि देने से पथ-भ्रष्ट हो जाने की आशङ्का है। मैंने कहा, बहुत अच्छा। हम दोनों थोड़ी दूर चले। वह अवधूत थोड़ी दूर पीछे हटा। मैंने यह समझा कि वह मेरा शिष्य था। अतएव मेरे बराबर चलने में उसे बड़ा सङ्कोच होता है। एक कूँए पर पहुँच कर उसने

ी कटी हुई उँगली की मरहम-पट्टी की और कहने
ा कि आप इसे न भूलिएगा। हम दोनों चले। मैं
ह सोचने लगा कि इस अवधूत के पास डिबिया में
न सी औषधि है जिसको उँगली पर लगाते ही
न्त पीड़ा कम हो गयी। इस विचार में मैं ध्याना-
स्थित हो गया और ज्यों ही फिर कर देखा तो अवधूत
कहीं पता न था। कई बार हाँक दी किन्तु किसी ने न
ना। इधर मैं कुछ श्रम अनुभव करके एक विशाल
त की छाया में सो गया। यह वृक्ष एक चौराहे के
च में था। सोते समय मुझे यह बिलकुल निश्चित
कि मुझे किस मार्ग जाना है। किन्तु सोकर उठने
बाद मुझे यह ज्ञान न रहा। थोड़े ही समय में बाँयें
र्ग से आता हुआ एक यात्री दृष्टिगोचर हुआ। यह
त्यन्त श्रमित प्रतीत होता था। उस निर्जन स्थान में
से देख कर मुझे बड़ी सान्त्वना हुई। जिस मार्ग की
र से यह आ रहा था वह बहुत ही रम्य था। पग-पग
र सुरभित पादपों की पंक्तियाँ थीं। विहङ्गम-समाज
नन्द से कलरव कर रहा था। स्थान-स्थान पर सुन्दर
टिकाएँ उपस्थित थीं। मन्द-मन्द वायु के सुरभित झोंके
र निकट तक आ [illegible]

निकट आया। मैंने खड़े होकर उसका स्वागत किया। परस्पर अभिवादन के पश्चात् हम दोनों शान्ति से बैठ गये। किञ्चित काल तक वह निर्निमेष दृष्टि से मेरी ओर देखता रहा। मेरी दृष्टि उसकी दक्षिण हाथ की तर्जनी पर अनायास पड़ी। ध्यान से देखने से ज्ञात हुआ कि उसकी भी एक उँगली कटी थी। कटे स्थान पर किसी ने मरहम लगा कर बाँध दिया था। मैंने अनायास उससे यह पूछ बैठने की धृष्टता की कि उसके यह चोट कहाँ लगी। उसने थोड़ा बहुत विचार करके ठण्डी साँस लेकर कहा कि इसका उत्तर कठिन है। मुझे एक इतिहास की पुनरावृत्ति करनी पड़ेगी। यह सुन कर तो मेरी उत्कण्ठा और भी विवर्धित हुई। मैंने उससे अधिक आग्रह किया। उसने अपना परिचय बड़े ही मधुर स्वर से आरम्भ किया:—

"जिस मार्ग से मैं आ रहा हूँ उससे लगभग एक मील की दूरी पर एक बहुत ही सुन्दर कच का रम्य प्रासाद है। उसका स्वामी एक अत्यन्त सुन्दर षोडस-वर्षीय नव-युवक है। उसके सौंदर्य-लावण्य से विमोहित होकर बहुत से यात्री सर्वस्व भुला कर उसके स्थान के अतिथि बने हैं। वह अत्यन्त सरल स्वभाव और स्मितभाषी है।

अतिथि सत्कार करने में भी बड़ा निपुण है। सौजन्य का मूर्तिमान स्वरूप है। सम्भाषण-गुण में बड़ा पटु है। आक्रमणकारी होने पर भी चित्त को आकर्षित करता है। एक पुष्प-बाण सुसज्जित कार्मुक सर्वदा अपने हाथों में रखता है। इसी के प्रहार से वह आगत यात्रियों का सत्कार करता है। वे भी इस विलक्षण आतिथ्य का प्रतिरोध नहीं करते, वरन् सहर्ष इसके बाणों का स्वागत करते हैं। आघात जनित-पीड़ा के स्वादु में उन्हें आनन्द आता है और इसी स्थान पर निवास करने से उन्हें सान्त्वना प्राप्त होती है। पुष्प-बाणधारी यह व्यक्ति प्रतिक्षण पर्यटन किया करता है। सारे रम्य-स्थान में, वाटिका, वापी, कूप, तड़ाग सभी स्थानों पर इसका साम्राज्य है। चर और अचर इस पर विमोहित होकर अपनी व्यवस्था भुला देते हैं। जलचर-थलचर-खेचर सभी को इसने आत्मसात् कर रखा है। यह किसी से कुछ नहीं बोलता। इसके देखते ही उनके शरीर उथल-पुथल हो जाते हैं। अगणित नववयस्का सहचरियाँ उसके साथ भ्रमण किया करती हैं। उसके निकट रह कर किसी को बुभुक्षा और पिपासा तक नहीं सताती।"

इतने में मुझे कुछ ऊँघते देख वह चुप सा हो

गया। मेरे नेत्र खुल गये। उसने पुनः अपनी कथा आरम्भ की।

"मैं भी उस काँच महल का बहुत दिनों तक अतिथि रहा। पुष्पवाणों के आघात से मेरा शरीर जर्जरित हो चुका है। परन्तु उस सुखप्रद-स्थान का परित्याग करते प्राण से निकलते थे। सहसा आज कुछ अवधूतों ने इसी पंचराहे पर सिंघी बजायी। मैं निकटवर्ती वाटिका में विश्राम कर रहा था। हृदय में एकायक एक बिजली सी दौड़ी और मैं झट उन अवधूतों की ओर झपटा। लगभग सब अवधूत चले गये थे। केवल एक मेरे पैरों की खटक पाकर वहीं ठिठक कर खड़ा हो गया। मैंने धराशायी होकर उसे प्रणाम किया। उसने मेरे मस्तक पर अपना कोमल कर सञ्चालन किया। तुरन्त ही पुष्प बाण जनित आघातों की पीड़ा शान्त सी हो गयी। वाटिका के सुरभित शीतल वायु के झोंके लू की भाँति शरीर पर लगने लगे। इतने में वाटिका का स्वामी भी निकट आ गया। इस समय उसकी आकृति में वह आकर्षण न था, न वह सौन्दर्य की आभा ही थी। उसने अवधूत को काँच-महल चलने का निमंत्रण दिया। परन्तु इसने बड़ी रुखाई से उसे अस्वीकार कर दिया।

वक ने मुझे अपने साथ चलने का आदेश किया। सकी इस उक्ति में यकायक उसके सौन्दर्य की झलक ने विद्युत्-छटा की भाँति पूर्व संस्कारों को एक क्षण के लिए पुनः प्रकाशित कर दिया। मैंने तुरन्त यह धारणा ना ली कि मैं इसी नवयुवक के साथ अपने जीवन का ष भाग व्यतीत करूँगा। इसी स्थिति पर अपना जीवन निर्वाह करूँगा।

"परन्तु अवधूत के नेत्रों में इतना प्रकाश और तेज ा कि उसकी उपेक्षा मैं न कर सका था। मध्याह्न होने पर भी उसकी मुखाकृति पर अभी प्रातःकाल ही तीत होता था। नेत्रों में सायंकाल की छटा थी। ऐसा अनुभव होता था कि वह बलात् अपने नेत्रों से मुझे निष्क्रिय किये हुए है। उसकी उपेक्षा करना कठिन ी नहीं वरन् असम्भव था। उसने अपने शब्दों में मुझ से कहा, "क्या आप वास्तव में यहाँ निवास करना चाहते हैं?" मुझे कुछ कहने का साहस ही नहीं हुआ और मैं झट अपने वास्तविक भावों को छिपाकर बोल उठा, 'कदापि नहीं।' उसने पुनः मुझसे कहा कि तुम इतने दिन इनके यहाँ रहे उसका तुमको कुछ देना पड़ेगा।' मैं घबड़ा गया। मैंने कहा स्वामिन्! मेरे पास

नहीं है। अन्त में यह निश्चय हुआ कि दण्ड में ही एक उँगली काट दी जाय और मैं मुक्त कर दिया जाऊँ। अभी अभी यह नवयुवक कटी उँगली लेकर तिरोहित हो गया है और वह अवधूत भी मरहम-पट्टी करके चल दिया है। मैंने उसके साथ चलने का बहुत आग्रह किया परन्तु उसने एक भी न सुनी। अब मैं मार्ग भूलकर इस स्थान पर आया हूँ।"

मैं इस यात्री का वृत्तान्त भली भाँति न सुन पाया। वह बड़े ही नम्र स्वर से सम्भाषण करता था और उसके स्वर में इतना माधुर्य था कि मुझे बीच बीच में नींद आ जाती थी। हाँ, मुझे काँच महल के सौन्दर्य की बात और उसके स्वामी के आकर्षण की बात बहुत अच्छी तरह याद थी। अन्त में यह भी सुना कि किसी ने इस यात्री की उँगली काट ली है। मुझे यह साहस न हुआ कि मैं पुनः इस यात्री से उस अपराधी का नाम पूछ कर मैं अपनी अन्य-मनस्कता का परिचय देना उचित नहीं समझता था। वह मुझे बड़ा अशिष्ट समझेगा, यदि कहीं उसे यह ज्ञात हो गया कि मैं उसकी बात को ध्यान पूर्वक श्रवण नहीं कर रहा था। सम्भव है वह अपना अनादर अनुभव करे। वास्तव में

उसका अनादर हुआ। मेरे हृदय में दूसरों के अनादर की भावना का जागृत होना बड़ा भारी पाप है।

निदान मैंने यही उचित समझा कि उससे कुछ न पूछूँ। उसकी कटी हुई उँगली को फिर देखकर मुझे अपने अपमान का स्मरण आ गया। मुझे यह भय हो गया कि कहीं यह मेरी कटी उँगली की कथा न पूछ बैठे। नाना प्रकार के विचार और कुतर्क उत्पन्न होने लगे। यात्री की उँगली के वृत्तान्त की आवृत्तियों ने प्रतिरोध की अवरोध भावना की अग्नि को जागृत कर दिया। मेरी उँगली में भी पीड़ा होने लगी। मैं ऊँचे स्वर से यात्री से कहने लगा।

"आपने अपना अपमान कैसे सहन किया? उँगली काटने वाले को दण्ड क्यों नहीं दिया? क्या आपके हाथ निर्जीव हो गये थे? क्या आत्म-गौरव की रक्षा का विचार आपके मन में उत्पन्न नहीं होता? क्या अपनी मर्य्यादा की रक्षा में, प्राणों को निछावर करना आप निन्दनीय समझते हैं? अथवा अपने गौरव की भावना ही आप में नहीं है?"

उसने नम्रता से उत्तर दिया। "मेरे तो कोई मान ही नहीं, अपमान किसका होगा। मान, गौरव, मर्य्यादा

तो बड़ों के होती है। मैं तो एक छोटा व्यक्ति हूं।
अपमान ही क्या हो सकता है। मुझे क्षमा कीजिए
मैं आप से कहूं कि आप मिथ्या बड़प्पन के विचार
परित्याग कीजिए। अपमान की अग्नि आप के हृदय
कभी भी प्रज्वलित नहीं हो सकती यदि आप मिथ
बड़प्पन की भावना को हृदय में अंकुरित न होने
आप अपने को छोटा ही समझिए। छोटे पन में महा
सुख है और बड़े पन में महान दुःख है। आप प्रकृति
ओर ध्यान दीजिए, छोटे-छोटे नक्षत्रों पर कभी भी ग्रह
नहीं लगते, जब कष्ट होता है तो सूर्य और चन्द्रमा को।
अभिमानी होने के कारण मृगराज वन-वन मारा-मारा
घूमता है परन्तु नम्र होने के कारण बकरी को सभी लोग
प्यार करते हैं। सिर, मुँह, नाक, कान इन सभी अङ्गों का
स्थान ऊँचा है परन्तु नीचे होने पर भी पूज्य केवल चरण
ही हैं। स्थूल-मूर्ति कुञ्जर अपने ऊपर मिट्टी डाल डाल
कर अपनी तृप्ति करता है, परन्तु छोटी होने के कारण
चिउँटी अच्छे अच्छे भाण्डों का रस आस्वादन करती है।
सूर्य-मुखी के बड़े भारी पुष्प को कोई भी नहीं पूछता
परन्तु छोटी सी जुही के पुष्प को मनुष्य हृदय के निकट
रखता है। मदोन्मत्त हाथी के पैरों में लोहे की शृङ्खलाएं

डाली जाती हैं, परन्तु छोटी चिउँटी की कहीं रोक-टोक नहीं। छोटे होने के कारण द्वितीया का चन्द्रमा पूज्य है और प्रतिदिन उसकी वृद्धि भी होती है, परन्तु पूर्ण चन्द्रमा प्रति दिन घटता जाता है और अन्त में अपना अपमान समझकर उसे दो दिन अपना मुँह छिपाना पड़ता है। छोटे बालक की कहीं रोक-टोक नहीं और वह रनिवास में भी प्रवेश पा जाता है, परन्तु बड़े मनुष्य द्वार पर ही रोक दिए जाते हैं। घर का नन्हा-सा दीपक सारे घर को प्रकाशित करता है, परन्तु बढ़ने पर अन्धकार कर देता है। हलका होने के कारण तृण जल में तैरता है, परन्तु भारी पत्थर सागर में सर्वदा के लिए विलीन हो जाता है। हे पथिक! गरुपपने की मिथ्या लालसा का परित्याग कीजिए। हलकी रुई पर खड्ग का आघात भी कुछ नहीं कर सकता।"

यात्री के इस उपदेश को सुनकर चित्त बड़ा ही लज्जित हुआ। जिस कारण मुझे इतना कष्ट भोगना पड़ा वही मेरी पाप पूर्ण भावना पुनः कैसे अङ्कुरित हुई? इस व्यक्ति को मैंने अपने पाण्डित्य का परिचय दिया। इस पथिक की ओर श्रद्धा उत्पन्न हुई। मानव समाज कितना उदार है। न जाने मुझमें इस यात्री के प्रति कितनी भक्ति

उत्पन्न हो गयी। मेरा हृदय विह्वल सा गया। सारे
बन्धुत्व का प्रभोत अप्रतिहत वेग से मेरे हृदय में प्र
होने लगा। मुझे साथ ही साथ ऐसा अनुभव होने
कि सारा संसार मुझसे अच्छा है। सारा संसा
शिक्षा दे सकता है। मेरा यह कर्तव्य है कि
संसार के चरणों में बैठकर शिक्षा ग्रहण करूँ।
यह निश्चय कर लिया कि सारे संसार के प्रति
करना ही मेरे शेष जीवन का अन्तिम ध्येय रहेगा।

अकस्मात् कुछ पीड़ित मनुष्यों का आर्त्तनाद क
गोचर हुआ। यात्री ने जाने की इच्छा प्रकट की। मैं
भी नत-मस्तक होकर उसका अभिवादन किया। उस
भी मुझे प्रणाम किया। वह सीधे जाने वाले मार्ग में चल
गया। मैं बाँईं ओर घूमा। इसी मार्ग से मैंने यात्री को
आते देखा था। इसी ओर से चीत्कार भी आ रहा था।
मैं वेग से चलकर इन पीड़ित व्यक्तियों की सहायता
करना चाहता था। थोड़ी दूर चलकर मैंने एक सुन्दर
वदन युवक देखा। मैंने सोचा कि सम्भवतः इसी की
चर्चा यात्री करता था। काँच-महल में सम्भवतः यही
निवास करता है। नीचे सहस्रों व्यक्ति घेरा बनाकर इस
व्यक्ति के चारों ओर खड़े थे। उनके ऊपर यह ...

का प्रहार कर रहा था। इन्हीं का चीत्कार दूर से मैंने सुना था। वास्तव में ये लोग हँस रहे थे। दूर से इनका हँसना करुण-क्रन्दन की भाँति प्रतीत होता था। ये वक्षस्थल निवस्त्र करके बाणों का स्वागत कर रहे थे। इनकी प्रसन्नता का अट्टहास पहले तो बड़ा कर्ण-कटु प्रतीत होने लगा। किन्तु शीघ्र ही कान इस स्वर के अभ्यस्त हो गये। इन व्यक्तियों को मैंने बड़े ध्यान से देखने की चेष्टा की। इनमें ढीले-ढाले पहजामे वाले मोटे मुचण्ड भारत वर्ष के पड़ोसी थे। चपटी नाक वाले, बौने शरीर के, नशे के झोंके में घूमने वाले चीनी भी उपस्थित थे। पूर्वीय ढांचे पर पश्चिमी जामा पहने हुए जापानी भी इनमें उपस्थित थे। दक्षिणी और पूर्वीय ध्रुव के निवासी भी न्यून संख्या में उपस्थित थे। योरप के प्रत्येक देश के निवासी बड़ी सजधज से बाणों का स्वागत कर रहे थे। फ्रान्स के लोग तो इस नवयुवक के चरणों को पकड़े थे। पातालपुरी के लोग भी वहां उपस्थित थे। ऐसा प्रतीत होता था कि ये पुष्प बाण वाले के विशेष चेलों में हैं। भारतीयों की संख्या भी थी।

यही नहीं इन व्यक्तियों के पहनावे से ऐसा प्रतीत होता था कि मानव समाज के प्रत्येक कर्मक्षेत्र के कर्ता

इनमें उपस्थित हैं। हाथ में लिए हुए स्टेटिस्कोप से बहुत से डाक्टर पहचान लिये और चन्द्रोदय डिबिया देखकर मैंने बहुत से वैद्यों का भी परिचय लिया। सम्भाषण के अनोखे ढङ्ग से मैंने कई वकी को भी देख लिया। पुस्तक को हाथ में देखकर मुझे कु लोगों पर पाठक होने का भी सन्देह हुआ। साधु, वैरागी अवधूत, फ़कीर, गृहस्थ, व्यापारी, श्रमजीवी इत्यादि सभी यहां उपस्थित थे। लम्बी-लम्बी पगड़ी धारण किए बड़े बड़े धुरन्धर पण्डित अपना शास्त्रार्थ भूलकर इस रम्य स्थान का आनन्द ले रहे थे। बड़ी-बड़ी डाढ़ी वाले मुल्लाओं को भी निमाज का ध्यान भूल गया था। बड़े-बड़े आनुविलम्बी वस्त्र धारण किए हुए ईसाई पादरी भी इनमें सम्मिलित थे। यदि इस स्थान पर भी मैंने किसी को सजग देखा तो कवि को। यह रम्य उद्यान के आनन्दों को सबसे अधिक भोग करता हुआ भी अपनी टूटी पेंसिल से एक फटे पत्र पर कुछ लिखता जाता था। इस विलास में भी इसे अपने कार्य का स्मरण था, यह वास्तव में आश्चर्य की बात है।

निकट आकर मैंने और ध्यान से देखा कि सभी प्रकार के मनुष्य इस रम्य उद्यान में विराजमान हैं।

ज्योंही उस नवयुवक ने मुझे देखा त्योंही वह तुरन्त मेरी ओर बढ़ा। अभी तक किसी ने मुझे नहीं देखा था। अन्य सज्जन अपने आमोद-प्रमोद में इतने व्यस्त थे कि मेरी ओर देखने का उन्हें अवकाश कहाँ? जब वह सुन्दर नवयुवक मेरी ओर बढ़ा तो अन्य सब लोग भी मेरी ओर आकृष्ट हुए। इस व्यक्ति की सुन्दर लटकदार चाल ने मेरी विचार प्रणाली में विप्लव कर दिया। परन्तु किसी ने ऐसी रीति से झटका दिया कि नव-प्रसादित स्नेह-तन्तु अत्यन्त शिथिल हो गया। परन्तु मन-मानस में रूप लावण्य विलीन हो चुका था। उसे पृथक करना कोई सहज कार्य न था। झटके का प्रतिरोध हुआ। स्नेह की स्फूर्ति असाधारण रूप से हो उठी। संलग्न-हृदय द्वारा प्रेरित मेरे तृषित नेत्रों ने विद्युत् के वेग से इतनी बार उसकी लावण्यमयी आकृति पर दृष्टि-विक्षेप किया कि शिथिल-प्राय स्नेह-तन्तु-इन्द्रियसूचिका (Shuttie) के पुनः पुनः सञ्चालन से असंख्य तन्तुओं का शक्तिशाली प्रेम-पट बन गया। मैं तुरन्त हाथ फैलाकर उसकी ओर दौड़ा। हृदय मानव समाज के प्रति प्रेम-प्रश्रोत तो पूर्व ही से उद्गत हो चुका था इस व्यक्ति की भेंट ने उसे अन्तःअवरुद्ध से प्रवाहित कर दिया। उसने मेरा अपूर्व स्वागत

किया। शीघ्र ही उसकी सहचरियां आगई। मैंने शास्त्रों में अध्ययन कर रखा था कि स्त्रियों की ओर न देखना चाहिए। झट मैंने उनकी ओर से ध्यान हटा लिया। परन्तु इसमें से एक ने बड़े मधुर स्वर से आसनासीन होने का आग्रह किया। पीछे किसी ने बहुत ही सुन्दर बिछौना बिछा दिया था। मैंने दृष्टि नत किए हुए उनकी आज्ञा का पालन किया। वह सुन्दर व्यक्ति मुझको छोड़कर चला गया। मैं यह समझता था कि ये महिलाएँ भी शीघ्र ही चली जायगी और तब मैं अन्य यात्रियों से उनके दुःख-सुख की चर्चा करूँगा। मैंने दूसरों की ओर दृष्टि-विक्षेप करके देखा तो सब आगन्तुकों की अत्यधिक सेवा हो रही है। प्रत्येक व्यक्ति के पास महिला सेविकाएं उपस्थित थीं। मुझे इस स्थान की विलक्षणता पर हँसी आयी। यहाँ के लोगों को अन्य महिलाओं से बातचीत करते लज्जा नहीं आती। इन महिलाओं को ये लोग अपने बिछौने पर इतने निकट स्थान दिए हैं जो कि सर्वथा अनुचित है। यही नहीं कुछ व्यक्ति तो इन महिलाओं का कर-स्पर्श भी कर रहे थे और उनके हाथों से भोजन ग्रहण कर रहे थे। कुछ लोगों को मैंने इससे भी अधिक अव्यवस्थित देखा। पहले तो अकस्मात् यह

विचार आया कि सम्भव है ये महिलाएं यात्रियों की प्रणीता मामिनियाँ हों। परन्तु जब मैंने देखा कि इन महिलाओं को पुरुष विशेष से कोई सम्बन्ध नहीं प्रत्युत सारे जन-समूह में जिसके साथ जैसा व्यवहार चाहती हैं करती हैं, तब तो मुझे इनके सतीत्व पर सन्देह होने लगा; परन्तु जब मैंने देखा कि यह सुन्दर भद्र पुरुष भी दो तीन रमणियों के साथ अशालीय व्यवस्था के साथ दूर खड़ा हुआ मनोरञ्जन कर रहा है तो मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि सम्भव है इस स्थान की रीति ही यही हो। मैंने धर्म-शास्त्रों में भी पढ़ा था कि स्थान-स्थान और समय-समय पर धर्म परिवर्तित हो सकता है। इस चरित्र को देखते देखते मैंने अनायास उन महिलाओं पर अपनी दृष्टि केन्द्रित की। मैंने इतने विलम्ब तक महिलाओं की ओर पहले कभी नहीं देखा था। वास्तव में ये सुन्दरी थीं। इनके शरीर पर भिन्न भिन्न प्रकार के वस्त्र और आभूषण थे। इनकी आकृतियों में बड़ा अन्तर था। परन्तु रूप-लावण्य में एक से एक सुन्दर थीं। थोड़ी देर के पश्चात् मैं यह विचार करने लगा कि तो बहुत अच्छी हैं। दर्य है।

इस प्रकार के विचार सागर में मैं अल्पकाल
लिये निमग्न सा हो गया। सचेत होने पर मैंने क्या
देखा कि निकट-स्थित एक महिला मेरे ऊपर व्य
जन कर रही है। मैंने जो ऊपर दृष्टि करके उसकी
ओर देखा तो उसके रूप के आलोक में मेरे नेत्र
चकाचौंध हो गए। मैंने झट नेत्र नीचे कर लिये।
और तुरन्त उससे निवेदन किया कि यह व्यजन करने का
कष्ट न उठावें। उसने एक न सुनी। चित्त में एक बड़ी
भारी आकुलता उत्पन्न हुई। उसके देखने की इच्छा फिर
हुई। परन्तु चित्त में एकाएक यह विचार आया कि महि-
लाओं की ओर देखना पातक है। तुरन्त ही दूसरा विचार
यह आया कि मेरी कुरूप आकृति को यह अच्छी तरह देख
लेगी यदि मैंने उसे देखने का साहस किया। बस यह
धारणा बँध गयी कि किसी ऐसे स्थान से इसे देखा जाय
जहां कि यह मुझे न देखे परन्तु मैं इसे देख लूँ। शीघ्र
ही मानस सरोवर का यह भी विचार उत्प्लावित बुद-
बुद की भाँति विलीन होगया और यही धारणा बल-
वती रही कि महिलाओं की ओर देखना पाप है। शीघ्र
ही एक नवीना नव-वयस्का बाला दौड़कर मेरे निकट
आयी। मैंने फिर सब बातों को भुलाकर नेत्रों के कोने से

इसकी ओर देखा। परन्तु भय यह था कि कहीं यह मुझे देखते हुए जान न ले। वास्तव में इस महिला में बड़ा आकर्षण था। आते-ही-आते वह मेरे चरणों के निकट बैठकर पैर दबाने लगी। मैंने झट पैर हटा लिये। उसने वेग से उन्हें पकड़ लिया। मैंने बहुत समझाया और उसे पैर छूने से रोका। परन्तु उसने एक न माना। समझाने के बहाने मैंने कई बार बड़े ध्यान से उसे देखा। उसने पैर न छोड़े। मुझे उसका हाथ पकड़कर हटा देने का साहस न हुआ। मैंने झटके से अपना वाम-पाद तो मुक्त कर लिया परन्तु उसने मेरा दक्षिण पाद बड़े वेग से अपने हृदय के निकट दबा लिया। एकाएक बिजली-सी बदन में दौड़ गयी। मैंने उससे पैर छोड़ने का आग्रह किया। व्यजन करने वाली सुन्दरी ने अपना मुँह मेरे कानों के निकट लाकर मधुर स्वर से कहा कि आप इसका हाथ पकड़ कर पलँग पर बैठा लीजिए अन्यथा यह आपके पैर न छोड़ेगी। मैंने पहले तो अपना मुँह हटाने का प्रयत्न किया परन्तु शब्द इतने मधुर थे कि वे बड़ी देर तक कानों में गूँजते रहे।

मुझे इस सुन्दरी को पैर के निकट बैठे रहने का कष्ट देना अभीष्ट न था। मैंने इच्छा के विरुद्ध भी कई बार

र पर्यंक पर आसीन किया। उँगली का छूना था
रे शरीर में ज्वर सा चढ़ आया। शरीर काँपने
मेंहदी की लालिमा से उसकी श्वेत उँगली इतनी
भित थी कि मेरे हृदय में उसका सौन्दर्य गड़ गया।
जिस प्रकार करण्ट लग जाने से कोई व्यक्ति तुरन्त
ली का तार छोड़ देता है उसी प्रकार बड़ी शीघ्रता
इस महिला की उँगली छोड़ दी। हृदय का कम्पन
वेग से बढ़ने लगा। चित्त कुछ व्यथित सा हुआ।
 में बवंडर-से आने लगे। नेत्रों के समक्ष अन्धकार
ने लगा। मैं लेट गया। उन महिलाओं में से एक
कि क्या आप कुछ अस्वस्थ हैं। मैंने झट उत्तर
हीं, मैं सोना चाहता हूँ।

ा कहकर मैंने चादर तान ली। मेरी विकलता
ई। मैंने मुँह खोला तो दोनों महिलाएँ मेरे ही
स्थित थीं। मैंने उनको अपनी इच्छा के विरुद्ध
आज्ञा दी। मैंने बहुत देर तक इनसे सेवा ली है
अपने स्वामी के यहाँ जाना चाहिए, इस विचार
से आग्रह किया कि वे चली जाँय। इस समय
 मुँह चादर में ढक कर सम्भाषण किया था।

मुझे भय था कि कहीं सम्मुख-सुख होने से उनकी कान्ति-रश्मियों के प्रकाश से पृथक होने का साहस द्रवीभूत् होकर बह न जाय। मेरे बारम्बार आग्रह करने पर वे चली गयीं। मैं भी अर्द्ध-सुसुप्तावस्था में लेट रहा। हृदय का कम्पन कम हो चला। चन्द्रानना उन दोनों के चले जाने के कारण हृदय की भी उमड़ समाप्त हो गयी। मस्तिष्क में विचारों की व्यवस्था ठीक हो चली। विवेक का प्रादुर्भाव हुआ। शरीर का उफान कम हुआ। भाँति भाँति के विचार उठने लगे। पूर्व निश्चित सिद्धान्तों पर पुनः विचार करने की इच्छा उत्पन्न हुई। यह कैसे सम्भव होगा कि इस स्थान पर मैं निवास करूँ और महिलाओं की ओर न देखूँ। अतएव यहाँ से चला जाना ही ठीक है। यहाँ रह कर इन बातों की रक्षा नहीं हो सकती। तुरन्त ही हृदय को शान्ति मिली। मैंने चादर फेंक दी और उठ कर चलने के लिए प्रस्तुत हुआ। शीघ्र ही मेरी दृष्टि उन्हीं दोनों सुन्दरियों पर पड़ी। वे दोनों मुझ से कुछ दूरी पर एक राजहंस को मोती चुगाने के लिए हाथ में मुक्ता लेकर आमंत्रित कर रही थीं। हंस मुक्ता के समीप चञ्चु ले आकर अनायास हटा लिया करता था, मानों मुक्ता के परि-

शीलन में उसे कुछ भ्रम-सा हो जाता था इन रमणियों
के ठीक ऊपर दो चकोर पक्षी मण्डलाकार बाँध कर उड़
रहे थे। मैंने इन रमणियों को बहुत ही अच्छी तरह
देखा। मुझे जाना तो था ही यह समझ कर और भी दत्त
चित्त हो कर इनके सौन्दर्य को देखा। उन्हें देखकर श्रना-
यास तुलसीदास जी की पंक्तियों का स्मरण आ गया।

जनु विरंचि सब निज निपुणाई,
विरचि विश्व कहँ प्रगट दिखाई।

साथ ही साथ यह विचार भी प्रादुर्भूत हुआ कि यदि
अभी मैं उठ कर चलने लगूँगा तो ये महिलाएँ मुझे दे
देंगी। अतएव इनके अदृष्ट होने के पश्चात् मैं चुपके
हाँ से चला आऊँगा।

इस विचार से मैंने पुनः चादर ता...
होने पर लेट गया। विचारों का संघर्षण ...
। मैं सोचने लगा कि शास्त्रों में
देखना वर्ज्य क्यों कहा है। साथ ही यह ... विचार
हुआ कि विवाह करना तो सभी शास्त्रों में विहित
वाह-विधान से कौन ऐसा भारी परिवर्तन पद
हो जाता है जो हमें उसके साथ रहने में कोई
होता। विवाह के पहले उसकी ओर देखना

वर्ज्य है परन्तु विवाह के पश्चात् उसी को हम अपनी स्त्री बना कर अनेक प्रकार के आमोद-प्रमोद करते हैं उसके हाथ भी पकड़ते हैं। उसे अपने पास भी बिठाते हैं। अब हमें इन्द्रियों को बहिर्मुख होने से रोकना है तो मनुजी ने आठ प्रकार के विवाह लिख कर इन्द्रियों के बहिर्मुख होने का साधन क्यों उपस्थित किया ? सन्त लोग तो एक स्वर से इन महिलाओं की बुराई करते हैं कबीरदास जी कहते हैं:—

चलो चलो सब कोई कहै, पहुँचे विरला कोय।
एक कनक अरु कामिनी, दुर्गम घाटी दोय॥
कामिनि सुन्दर सर्पिणी, जो छेड़े तेहि खाय।
जो गुरु चरनन राचिया, तिनके निकट न जाय॥
छोटी-मोटी कामिनी, सब ही विष की बेलि।
बैरी मारे दांव दे, ये मारैं हँसि खेलि॥

गुसांई तुलसीदास जी कहते हैं:—

अमिय आरि गारेउ गरल, नारिकरी कर्तार।
प्रेम बैर की जननि युग, जानहिं विधि न गँवार॥

धरनी दास जी कहते हैं:—

कामिनि ऐसी … फाँसी ऐसा दाम।
… करै जो राम॥

संयोग है तो जन्म लेते ही मनुष्य के जीवन का अन्त क्यों न कर लेना चाहिये। विवाह कर के इन्द्रियों के सुख-दुख का साधन उपस्थित करना कहाँ की समझदारी है। विशेषतः जब स्वयं श्रीकृष्ण जी ही कहते हैं:—

'यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः।"

परन्तु विवाह करना यदि शास्त्र विहित न होता तो पुत्र-उत्पादन इतना आवश्यक क्यों बतलाया जाता और यह क्यों कहा जाता कि "यद्या पुत्री सोऽनृणी" और पुत्र की व्याख्या इस प्रकार क्यों होती—"पुन्नाम् नर्कात् त्रायते इति पुत्रः"।

इस प्रकार की बातों से प्रतीत होता है कि शास्त्र स्वयं परस्पर विरोधी हैं। शास्त्रों के प्रतिकूल कुछ कहना पाप बतलाया गया है। परन्तु तर्क-शास्त्र बतलाता है कि किसी भी बात को प्रमाण स्वरूप मान लेना, चाहे वह किसी पुस्तक में हो, अपने को धोखा देना है। वास्तव में मैंने कभी भी इस ओर ध्यान नहीं दिया था। धर्म की गति बड़ी सूक्ष्म है। यदि इन्द्रियों के बहिर्मुख होने के भय से हम आत्म-हत्या कर लें तो भी आत्म-हत्या का पातक लगेगा। महान अँधेरे नर्क में वास करना

पड़ेगा। वाजसनेय संहितोपनिषत् में मैंने पढ़ा है:—

असुर्य्या नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृताः
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः।

कवि सम्राट् शेक्सपियर ने हैमलेट नामक नाटक में भी लिखा है:—

"But that the dread of something after death, the undiscovered country from whose tour no traveller returns, puzzles the will and makes us rather bear those ills we have, than fly to others that we know not of ?"

यदि आत्महत्या करके इन्द्रियों को वहिर्मुख होने बचाना भी निन्दनीय है तो फिर अन्य कौन उपाय की रक्षा का है। वास्तव में हमें अपनी आत्मा का स करना है। उसी के लिए जन्म मिलता है। यदि आत्म-हत्या कर लेंगे तो हमें पुनः जन्म लेना पड़ेगा। ष्टि से भी आत्म-हत्या करना सम्भवतः उपयुक्त नहीं। सी स्थिति में अमुक काम करना चाहिए अथवा सकी व्यवस्था कौन दे। शास्त्रों में विचारान्तरों का ण कौन करे। अब समस्त प्रश्न यह है कि इन

महिलाओं के प्रति मेरा व्यवहार कैसा हो। देखने का प्रश्न तो दूर हो गया। यह पातक तो मैं कर ही चुका। विचारना यह है कि यह स्थान मेरे रहने योग्य है अथवा नहीं। इस प्रकार के धार्मिक-प्रश्न जब हमारे सम्मुख उपस्थित होते हैं तो हमारा क्या कर्त्तव्य होना चाहिए इसे भी विचार करना है। पूर्वकाल में धर्म के जटिल प्रश्न कैसे हल किये गये हैं? यह भी देखना है कि धर्म के सिद्धान्त ध्रुव सत्य हैं अथवा इनमें भी कुछ अपवाद है। यदि अपवाद है तो वह कहाँ लागू होता है और उस अपवाद की यथार्थता का निर्णायक कौन होता है। मैं यही विचार कर रहा था कि किसी ने शान्ति से मेरा मुँह खोल दिया। मैं झट उठकर बैठ गया। मेरे दाहिनी ओर वही सुन्दर नवयुवक और बाईं ओर पूर्व परिचिता सुन्दरी बैठ गयी। उन दोनों ने मुझ से उद्यान में चलकर भ्रमण करने का आग्रह किया। मेरे विचार तारतम्य के एका-एक छिन्न हो जाने से मुझे अपने आपको सचेत होने में तनिक विलम्ब हो गया। उस सुन्दरी ने मुझ से अचानक यह प्रश्न कर दिया कि क्या मेरे मस्तक में कोई पीड़ा है। उत्तर की प्रतीक्षा न करके वह तुरन्त निकटवर्ती एक सुन्दर कोठे से तेल की एक शीशी उठा लायी और अपने

कोमल हाथों से मेरे सिर पर मलने लगी। मैंने उसे
मना किया परन्तु उसने एक न सुनी। मेरे निषेध
इस समय वह बल न था। मेरा अवरोध केवल नि
प्रतिरोध था। शब्दों का अनुमोदन हृदय न करता
धीरे धीरे शब्दों का भी व्यापार समाप्त हो गया।
नींद सी आने लगी। शरीर में प्रस्वेद हो आया।
तुरन्त ही उठ खड़ा हुआ। उन्होंने भी समझा कि मैं रम
यान में उनके साथ भ्रमण करने चलता हूं। मेरी बाईं
ओर यह लज्जा-नत-मुखी देवी थी और दाहिनी ओर पुष्प-बाण
धारी सुन्दर नवयुवक था। इस नवयुवक की चाल में मैंने
अनोखी बात देखी। जिस स्थान पर वह चलता था उस
स्थान की घास हरित होती जाती थी। जिधर वह दृष्टि-
विक्षेप करता था मानो उस ओर की सुन्दरता चौगुनी
हो जाती थी। वृक्षों पर ललित पल्लव चलायमान हो
जाते थे। वायु की अनुपस्थिति में भी वृक्ष की डालियां
परस्पर सङ्घर्षण करने लगती थीं। जिन जलाशयों की
ओर वह देखता था उनका जल भी उथल-पुथल होने
लगता था और उमड़ कर निकटवर्ती जलाशय के जल से
सङ्घर्षण करता था। ऊपर देखते ही जलरिक-जलदसमूह
भी इतनी वेग से सङ्घर्षण करते थे कि उनका भयावह

शब्द कर्ण-विवरों को जर्जरित कर देता था।

साथ चलने वाली सुन्दरी की चाल में लज्जा और सुरता का सामञ्जस्य था। उसके पीछे पीछे हंस-युगल इस प्रकार पैर मिलाकर चल रहे थे कि मानो उसकी सुन्दर चाल का अनुकरण करना चाहते हैं। नवयुवक आगे बढ़ गया। इस नत-आनना के साथ मैं कुछ पीछे रह गया। हम दोनों के कुछ ठिठक जाने पर इस महिला ने दो मोती हंसों को चुगाने के लिए निकाले। परन्तु इनका रङ्ग विचित्र था। नीचे का रङ्ग तो इनका बिलकुल रक्त-वर्ण था परन्तु ऊपर का रङ्ग कृष्ण था। निकट आकर देखने से और भी एक नयी बात प्रतीत हुई। ऊपर का कृष्ण रङ्ग अस्थिर था। मैंने उससे मोती अपने हाथों में माँगे। उसने बहुत धीरे से उन्हें मेरी हथेली पर रख दिया। किन्तु मेरे हाथ में लेते ही वे स्फटिक मणि की भाँति स्वच्छ हो गये। यह रहस्य मेरे ध्यान में न आया। मैंने फिर उसके हाथों में उन्हें देकर अपनी उद्विग्नता शान्त की। उनका रङ्ग पुनः परिवर्तित हो गया।

निर्जन स्थान पर होने पर भी मुझे इस महिला से अधिक सम्भाषण करने का साहस न हुआ। शीघ्र ही सन्ध्या हो गयी। सूर्य भगवान की लोहित रश्मियों ने पृथ्वी से

ना आधिपत्य हटाकर वृक्षों के शिखरों पर स्थापित
या । दैनिक पर्य्यटन से प्रत्यागत विहङ्गमों ने भी
दा के लिए प्रस्तुत दिवाकर भगवान की अभ्यर्चना के
र अपनी कलकल ध्वनि से नीड़-स्थित अपने शावकों
आमंत्रित किया । उन्होंने भी अर्द्ध-अस्फुटित स्वर से
र देते हुए अपनी स्थिति नीड़-द्वार पर सूचित कर
पुरस्कार स्वरूप उनकी चञ्चुपुट में अर्द्धचर्वित-कृमि दे
गया। शनैः-शनैः पक्षी गण भी कोटरस्थ हो गये । कुछ
के ऊपर ही रहे । रात्रि-चारी पक्षि-समूह विचरने
निकट ही शृगाल कदम्बकों का सामुहिक हुहाकार भी
ई पड़ने लगा । चक्रवाक अपनी सहचारिणी से विदा
का था । चन्द्रमा का प्रकाश शनैः शनैः अधिक
ही चला । थोड़े ही काल में सारा उपवन धवलित
या । हंस-युगल भी निकटवर्ती निवास-स्थान पर
गया । मैं उस लज्जानना के साथ थोड़ी दूर चलकर
जल-स्रोत के निकट एक ऊँचे हरित स्थान पर
या । मुझे पुनः यह विचार आने लगा कि एक
के साथ किसी निर्जन स्थान पर न बैठना
। इच्छा होने लगी कि शीघ्र ही यहाँ से उठ जाऊँ ।
विचार में कार्य करने की शक्ति पर्य्याप्त न थी।

मैंने एक बार साहस करके उस महिला की ओर देखकर कहा। "अब चलिए, निवास स्थान चलें।" वह तुरन्त ही उठकर खड़ी हो गयी। मेरे नेत्रों ने इस बार उसमें एक अलौकिक छटा का दिग्दर्शन किया। उसके नेत्र दूध की भाँति स्वच्छ थे। उसका वस्त्र चाँदनी को तिरस्कृत कर रहा था। उसके चरणों में किसलय पल्लवों का सौंदर्य था। उसका प्रत्येक अङ्ग छुईमुई का सा सङ्कोच रखने वाला था। इतनी देर पास बैठी रही परन्तु उसने एक शब्द भी मुझसे न कहा। मैंने व्यर्थ में उससे चलने को कह दिया। थोड़ी देर और बैठता। परन्तु अब बैठने का आग्रह उचित नहीं। यह सोचकर मैं भी उठ खड़ा हुआ। हम दोनों चलने लगे। मैंने यह निश्चय किया कि इस समय कोई मुझे देखता नहीं; अतएव इसकी ओर ध्यान से देख सकूँगा। यह भी मेरी ओर न देखेगी। मैं चलता जाता था। मेरे दरिद्र नेत्रों ने उसके अक्षुण्य सौन्दर्य भण्डार को भली भाँति चुराया। यह सब कुछ उस समय हुआ, जब रात्रि में चाँदनी थी। निशाकर भगवान मेरे सहायक थे। पहले तो मैंने तुलसीदास जी का उपहास मन ही मन किया। उन्होंने यह कैसे कहा कि:—

"भोरहिं चांदनि राति न भायी"

फिर Shakespeare स्मरण आया। वास्तव में वह तत्त्वदर्शी था। 'Beauty provoketh thief sooner than wealth,' उसकी यही सूक्त है। परन्तु यह चोरी भी विलक्षण है। इस सौन्दर्य-भण्डार की नेत्रों ने जितनी बार चोरी की उतनी ही बार पहले की अपेक्षा उसमें अधिक भण्डार पाया। सरस्वती के भण्डार की ही अभी तक मैंने यह बात सुनी थी। आज इस सौन्दर्य-भण्डार से नवीन सिद्धान्त का परिशोध हुआ।

नेत्र पक्के चोर हो गये थे। अब वे मेरी इच्छा के बिना ही झट उस ओर पहुँच जाते थे। वह सुन्दरी सीधे-सीधे नीचे मुँह किये चली जाती थी। ऐसा प्रतीत होता था कि वह मौनावस्था की मूर्ति है। आत्म-नियंत्रण से ही आत्म-विकास होता है, यही उसका अभीष्ट-मन्त्र प्रतीत होता है। ऐसी मृदुल और सुन्दर रमणी की ओर न देखना पाप करना है। शास्त्रों ने कभी ऐसी रमणी की ओर न देखने को नहीं कहा होगा। और यदि कहा भी है तो उनका बकवाद है। वेदाभ्यास से जड़ मतिवाले, विषय कौतूहल से अनभिज्ञ ऋषियों ने ही तो शास्त्रों का निर्माण किया है। उन्हें ऐसी सुन्दर साध्वी महिला की कल्पना भी विचारातीत होगी। फिर महिलाओं के प्रति

उनका विचार कैसे आर्द्र हो सकता है। और, एक बात य
भी तो है कि सब शास्त्रों को पुरुषों ने रचा है। यदि
महिलाओं का कहीं उन में हाथ होता तो यह पक्षपा
सम्भव न था।

मैं इस विचार में मग्न था कि हम दोनों के मार्ग
एकाएक वृक्ष के ऊपर से एक पक्षि-शावक स्वर करत
हुआ पृथ्वी पर गिर पड़ा। उस बाला ने झट उसे उ
लिया। अपने अञ्चल से उसका मुँह पोछा। उसके अञ्च
में रक्तचिह्न लग गये। मैंने उसको ध्यान से देखा
ऐसा प्रतीत हुआ मानो किसी आक्रान्तकारी निशाच
पक्षी ने पक्षि-कोटर में जाकर इस को भक्षण कर
की चेष्टा की थी। पलपत्तर होने के कारण इसका पक्ष
एक यह कुछ न कर सका। प्राण-रक्षा के युद्ध
स्खलित-स्थान यह पक्षी अनायास पृथ्वी पर पति
हो गया। शत्रु के चञ्चु प्रहारों के आघातों से रक्त
स्राव अब भी हो रहा था और वह क्षतों की पीड़ा
व्याकुल होकर बार-बार अपनी चञ्चु फैला दिया कर
था। मैंने उस सुन्दरी के कर-कमलों से इस पक्षि
शावक को अपने कर-पत्र में रख लिया। मुझे यह प्रती
होने लगा कि इसके मुँह में यदि शीतल

न डाला जायगा तो यह शीघ्र ही शरीर त्याग देगा। इस विचार से मैंने उस महिला से नम्रता के साथ कहा, "आप महल को चलिए मैं इसके मुँह में थोड़ा सा जल इस निकटवर्ती प्रश्रोत से डालकर इसे इसके कोटर में पहुँचाने की व्यवस्था करूँगा। शीघ्र ही मैं भी आता हूँ।" इस पर उस सुन्दरी ने नत मस्तक होकर कहा, 'जो आप की आज्ञा! परन्तु शीघ्र आइएगा।'

इतना कहकर वह चली गयी। मैं जलाशय के निकट गया। अञ्जुली में जल भर कर मैंने उसकी चोंच में डालना चाहा। परन्तु मेरे कई बार प्रयास करने पर भी इसने अपना मुँह न खोला। मुझे शीघ्र ही इसका रहस्य ज्ञात हो गया। यह मर चुका था। इसको बलात् जल पिलाने की चेष्टा करनी मूर्खता थी। मैंने इसे झट पृथ्वी पर डाल दिया; मानों इसका मूल्य समाप्त हो चुका था। इसका जीवन प्रकाश निकट वाले जुगनू-समूह के प्रकाश में मिल गया था। इसकी अचानक मृत्यु से मुझे कोई शोक न हुआ। मैं घर लौटने की बात सोचने लगा। परन्तु अचानक यह विचार प्रस्फुटित हुआ कि यदि मैं इसी समय प्रस्थान कर दूँगा तो यह सुन्दरी मार्ग ही में मुझे मिल जायगी और इस पक्षी का वृत्तान्त पूछने लगेगी।

अतएव मैंने उचित समझा कि निकटवर्ती उन्नत शिला-खण्ड पर बैठकर थोड़ी देर विश्राम करूँ।

शिला पर बैठकर मुझे पुनः उस सुन्दरी का ध्यान आने लगा। मैंने सोचा कि वह कैसी कोमल-हृदया है कि पक्षि-शावक को पतित देखकर उसे झट उठा लिया। उसने यह भी चिन्ता न की कि अञ्चल पर रखने से उसका कोना धूलि-धूसरित और रक्त लोहित हो जायगा। जिसकी प्रकृति पशु-पक्षियों के प्रति ऐसी आर्द्र, है वह भला मानव समाज की कितनी हितकांक्षिणी होगी। स्त्रियाँ स्निग्ध-हृदया होती हैं इसी से तो भगवान् ने उन्हें भी कोमल बनाया है। न जाने कितने प्रकार से कवियों ने इनके अङ्ग-प्रत्यङ्ग की प्रशंसा की है। हम अभी मूर्ख थे जो हमने इनकी ओर देखना भी पाप समझ रखा था। यह ठीक ही कहा है कि प्रत्येक समय किसी व्यक्ति के ज्ञान-चक्षु खुले नहीं रहते। शास्त्रकारों पर ही एक मात्र निर्भर रहना अपने ज्ञान का दिवालियापना घोषित करना है। शास्त्रों पर तो आंखें बन्द करके कभी विश्वास ही न करना चाहिए, अन्यथा ये हमारी बुद्धि को भ्रान्ति के वात्याचक्र में डालकर आकाश के बादलों की भांति कभी विश्राम न लेने देंगे। अब तो मुझे यह

भी सन्देह होने लगा है कि जो हम लोग अपने ध
शास्त्रों का इतना डङ्का पीटा करते हैं वास्तव में क्या
इतनी कीर्ति के अधिकारी हैं। स्त्रियों ही के सम्बन
में नहीं, अन्य विषयों पर भी इनके वचन इतने लच
और परस्पर विरोधी हैं कि मुझे तो इन पर अब को
श्रद्धा नहीं रही। मांस-भक्षण के सम्बन्ध में मनु ज
लिखते हैं:—

पितृ देवतातिथि पूजायां पशुं हिंस्यात्
मधुपर्के च यज्ञे च पितृ दैवत कर्मणि
अत्रैव च पशुं हिंस्या नान्यत्र मनोम्मनुः।

यदि पितृ देव तथा अतिथि के निमित्त पशु का वध
करके उन्हें मांस से सत्कार करना शास्त्र विहित है तो
प्रतिदिन पशु वध करके मांस का भक्षण करना क्यों बुरा
है? अन्यत्र स्वयं मनुः ने ही मांस खाने के प्रतिकूल क्यों
कहा? मधुपर्क, यज्ञ, पितृ और देव कर्म ऐसे पवित्र
अवसरों पर यदि पशु-वध निन्द्य नहीं है तो अन्य
दिवसों पर क्यों निन्द्य है? पवित्र दिवसों पर यदि एक
विधान विहित है तो अन्य दिवसों पर वही अविहित
क्यों निश्चित किया गया है?

धर्म-शास्त्रों में हमारे यहाँ सब से उत्तम पुस्तक मनु-

स्मृति ही समझी जाती है, यह सब लोगों को प्रायः मान्य है। इस पुस्तक का यह हाल है तो अन्य ग्रन्थों की बात ही क्या है। जिस स्थान पर मनु जी ने मानव-समाज के कार्य निर्धारित करते हुए नीति-धर्म बतलाये हैं, वहाँ लिखा है:—"अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिंद्रिय निग्रहः" यही प्रमुख पाँच आज्ञाएँ हैं। यदि हम ध्यान से इन नियमों का अनुशीलन करें तो हमें स्पष्ट मालूम हो जायगा कि प्रत्येक आज्ञा में खोखलापन है। और प्रत्येक नियम के प्रतिकूल स्वयं मनु जी ने ही अन्यत्र व्यवस्था दी है। और बड़े बड़े लोगों ने इनका उल्लङ्घन किया है और फिर भी वे सर्वश्रेष्ठ समझे जाते हैं। सब धर्म इन सिद्धान्तों की दुहाई देते हैं और सभी धर्मावलम्बी इनके प्रतिकूल काम करते हैं। क्या परस्पर युद्ध करके प्राण-हरण करना हत्या नहीं? यदि है तो संसार के महान पुरुषों ने क्यों इतने युद्ध किये? कौन ऐसा धर्म है जिसके अनुयायियों ने दूसरों का रक्त-पात नहीं किया? क्या यही अहिंसा है? शास्त्रों में तो यहां तक लिखा है कि प्राणी को किसी प्रकार का मन वचन कर्म से दुःख देना हिंसा है। यदि यह सम्भव नहीं तो हम 'अहिंसा परमोधर्मः' का ढोल क्यों पीटते हैं? स्वयं मनु

जी क्या नहीं कहते:—

> गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम्
> आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ।

क्या आततायी के प्राण नहीं होते ? यदि होते हैं तो यह कहां का न्याय है कि उसके घातक को हम पातकी न समझें ? यही न कि हम अपने प्राण को दूसरों से श्रेष्ठ समझते हैं ? यही हमारा स्वार्थ-त्याग है ? अपने प्राणों के लिए गुरु हो चाहे पांच वर्ष का बालक हो अथवा अस्सी वर्ष का बूढ़ा हो, चाहे ब्राह्मण हो, चाहे नाई हो, सभी को इस मंत्र की आड़ में स्वार्थ के अग्नि-कुण्ड में आहुति दे दें। मनु जी से कोई प्रश्न करे कि यदि किसी गुरु (यह शब्द ऐसा व्यापक है कि माता-पिता भी इसमें सम्मिलित कर लिये जाते हैं) के मस्तिष्क में अचानक विकार आ जाय और वह शिष्य की ओर लकुट हस्त हो दौड़े और यदि शिष्य को यह भ्रम हो जाय कि गुरु के लकुट-प्रहार से उसका प्राण चला जायगा तो क्या वह गुरु की सारी पुरानी कृपा का विस्मरण करके तुरन्त उस वृद्ध का प्राणापहरण कर लें ?

कोई अहिंसा के प्रतिपादक शास्त्रकारों से स्वयं पूछे कि क्या वे कभी जल ग्रहण नहीं करते थे ? क्या

उनके जल-पान में अथवा श्वास में कोई कीड़े न गये होंगे? फिर कैसे वे दूसरों को अहिंसा का पाठ देते हैं? क्या महाभारत धर्म-ग्रन्थ नहीं, फिर अनुशासन पर्व में आखेट करना क्यों न्याय सङ्गत कहा गया है? वन पर्व में एक ब्राह्मण को धर्म की दीक्षा के लिए एक व्याधा के पास क्यों जाना पड़ा था? यदि अहिंसा का ही पालन हो तो प्रजा की रक्षा कौन करेगा? अहिंसा के वर्तमान कालीन सर्व श्रेष्ठ पोषक महात्मा गांधी को भी कुत्तों की हत्या करने की व्यवस्था देनी पड़ी। ऐसी दशा में मनु जी का अहिंसा-धर्म केवल कागज़ी धर्म नहीं तो और क्या है?

अच्छा अब अहिंसा को छोड़कर सत्य की व्याख्या का प्रश्न लीजिए। सत्य के इतने गीत गाये गये हैं कि सत्य और भगवान में कोई भेद नहीं रह जाता। सत्य को पञ्चतत्वों का प्रसवकारक कहा है। यह अनित्य है।

अश्वमेध सहस्त्रं च सत्यं च तुलयाधृतम्।
अश्वमेध सहस्त्राद्धिसत्यमेव विशिष्यति॥

(अ० १३-१०२)

मनु जी की आज्ञा है:—

"सत्य पूता, वेदवांचं"

परन्तु सत्य होते हुए क्या यदि हम अन्धे को अन्धा कहेंगे तो यह अशिष्टता नहीं है ? यदि किसी स्थान पर चोरों की आशङ्का से कुछ धनी जा छिपे हों और तुम उस स्थान को जानते हो, तो क्या तुम चोरों के पूछने से उसका पता बतला दोगे ? यह भी तुम जानते ही हो कि उनका रहस्य उद्घाटन हो जाने पर वे मार डाले जायंगे। क्या ऐसी अवस्था में सत्य बोलना हिंसा न हुआ ? मनु कहते हैं कि ऐसी अवस्था में मौन हो जाय। क्या मौन हो जाना यह घोषित नहीं करता कि हम कायर हैं ? यदि किसी स्थान पर मेरे किसी परिचित व्यक्ति के चरित्र पर घृणा और झूठे आक्षेप मेरे समक्ष हो रहे हों और मैं चुपके श्रवण करता रहूं तो क्या यह झूठ बोलने से भी अधिक न हुआ ?

परन्तु महाभारत में तो ऐसी अवस्था में भीष्म ने युधिष्ठिर से झूठ बोल देने की आज्ञा दी है:—

'श्रेयस्तत्रानृतं वक्तुं सत्यादिति विचारितम्'

ऐसी अवस्था में मनु जी का सत्य कहाँ चला गया ? शान्ति पर्व में तो मनु जी का सिद्धान्त की लज्जा रखने के लिए यहाँ तक कह दिया है कि जिस सत्य में सभी की हानि हो वह न तो सत्य है और न अहिंसा ही।"

शुक जी का सत्य तो कुछ और ही विलक्षण है:—

सत्यस्य वचनं श्रेयः सत्यादपि हितं वदेत्।
यद् भूतहितमत्यन्तं एतत्सत्यं मतं मम ॥

युधिष्ठिर के 'नरोवा कुञ्जरो वा' कहकर झूठ बोलने से तो सारे लोगों का कल्याण हुआ परन्तु उनको इसका दुःख क्यों भोगना पड़ा? उनकी उँगली क्यों गलने लगी?

मनु जी ने लिखा है कि झूठ गवाही देने वाला पितरों के सहित नरक जाता है। परन्तु कर्ण पर्व में चार चोरों के दृष्टान्त में निरपराधी लोगों के प्राणापहरण की आशङ्का में असत्य गवाही देना भी न्याय-सङ्गत बतलाया गया है।

ईसाई धर्म में कहा है कि यदि मेरे असत्य से भगवान की महिमा अधिक बढ़ती है तो मैं पापी क्योंकर हो सकता हूं।

महाभारत तो और आगे बढ़ गया है और उसमें कई स्थान ऐसे प्रकटित किए गये हैं जहाँ झूठ बोलना पाप नहीं।

न नर्मयुक्तं वचनं हिनस्ति
न स्त्रीषु राजन्न विवाह काले

ब्राह्मणार्थे सर्व धनाहारे

पशवृत्तास्म्याहुरपा

इसी प्रकार की आपत्तियाँ मनु जी
स्तेय के सम्बन्ध में है। यह कौन नहीं
विश्वामित्र मनु जी की भाँति मूर्खता
सम्भवतः उन्हें अपने प्राणों की रक्षा का
न था। मनु जी लाख लिखते रहें कि
भक्ष्यः" परन्तु विश्वामित्र ने इस आदेश
परवाह न की। उन्होंने मूढ़-चाण्डाल की
की कि वह भी समझ गया होगा:—

पिबन्त्येवोदकं गावो मंडूकेषु रुवत्सु
न तेऽधिकारो धर्मोऽस्ति मा भूरात्मप्र

भला ऋषि जी के रक्त-वर्ण वाले नेत्रों
एक चाण्डाल किस प्रकार कर सकता था।

जब विश्वामित्र ऐसे महर्षि स्तेय कर्म
नहीं समझते तो मनु जी के लिखने से क्या हो
यह सब धर्म शास्त्र रचने वालों के ढकोसले हैं
आदेश स्वयं लिखते हैं और स्वयं उसी के
आचरण करते हैं। हमें यह आदेश

स्थान पर बुद्धि काम न दे वहाँ पर श्रेष्ठ जनों का मार्ग अनुसरण करो। इस बात पर भी अनेक शङ्काएँ होती हैं। कौन ऐसा आदर्श व्यक्ति है जिसका अनुसरण किया जाय। कवि-सम्राट् भवभूति ने बड़े व्यक्तियों का अच्छा चित्र चित्रित किया है जब उन्होंने स्पष्ट यह कह दिया कि "वृद्धास्ते न विचारणीय चरिताः"। विष्णु ने पुरन्दर की स्त्री का सतीत्व बिगाड़ा। ब्रह्मा की किम्वदन्ती प्रचलित ही है। शिव जी ने रति के पति को ही अकारण भस्म कर दिया। इन्द्र की लम्पट किम्वदन्तियों से हमारे सारे पुराण भरे पड़े हैं। श्रीकृष्ण जी ने कौरव पाण्डवों को नष्ट करा दिया। रामचन्द्र जी ने बालि को पेड़ की आड़ में छिप कर छल से वध किया। अब किसका अनुकरण किया जाय? यदि यह कहा जाय कि मनुष्य को अपनी बुद्धि से काम लेना चाहिए, इन महान व्यक्तियों की सुन्दर कृतियों का अनुसरण करना चाहिए और अन्य निन्दनीय कृतियों की उपेक्षा करनी चाहिए, तो इस बात में भी यही कठिनता उपस्थित होती है कि अच्छे और बुरे कामों की कसौटी क्या है? यदि बुद्धि ही कसौटी है तो प्रमाण हमारे निकट है कि बुद्धि हमें उसी मार्ग पर ले जा रही है जो शास्त्रीय मत का अप-

याद है। यदि वास्तव में सन्देह पद पर व्यक्तियों का प्रमाण अन्तःकरण ही होता है तो शास्त्रों की क्या आवश्यकता। और क्या प्रमाण है कि अन्तःकरण सर्वदा उपयुक्त ही परामर्श देता है? यह तो निर्विवाद सिद्ध है कि सब व्यक्तियों से अन्तःकरण विकसित और प्रस्फुटित नहीं होता है। बड़े नियंत्रण और जागरुकता से आत्मा आदेश देने के योग्य बलवती होती है। हमारी आत्मा का विकास बहुत कुछ हमारे वातावरण से निर्मित होता है। वातावरण स्थान समय और परिस्थितियों के अनुकूल परिवर्तित होता है। फिर हमारे आत्मा का विकास एक भाँति कैसे हो सकता है। एक जङ्गली साधु और एक सुन्दर राजयुवक के आत्म-विकास में आकाश-पाताल का अन्तर होगा।

यदि यह बात ठीक है तो सब की आत्मा एक निष्कर्ष पर कदापि नहीं पहुँच सकती। ऐसी अवस्था में यह आशा करना कि किसी की आत्मा जो आदेश उसे करे वही सच्चा मार्ग है, भ्रम के अतिरिक्त कुछ नहीं है।

मैंने तो यह निश्चय कर लिया है कि परिस्थितियों का अनुशीलन करके जो मुझे सूझेगा, करूँगा। अब

अधिक शास्त्रों के झमेले में पड़कर अपना मनुष्यत्व नष्ट न करूँगा। यह इतना सुन्दर और रम्य स्थान है, यहाँ के निवासी इतने भले हैं कि इनकी उपेक्षा करना पाप है। मुझे यहाँ की सुन्दरी से अवश्य वार्तालाप करना चाहिए, हँसना चाहिए, उसकी ओर देखना चाहिए; यह कोई पाप नहीं। और फिर जब तक अपने को रोम में रहना है तब तक रोमनों की भाँति ही आचरण करना चाहिए। यह कोई पाप का स्थान नहीं। पाप जिस स्थान पर होते हैं वह इतना रम्य हो ही नहीं सकता। पद्म-पुराण में लिखा है कि दण्डक वन इस लिए निर्जन हो गया था कि उसमें शुक्र की कन्या का सतीत्व नष्ट किया गया था। यदि यहाँ भी कोई ऐसी बात होती तो यह स्थान ऐसा रम्य कैसे बना रहता?

फिर यहां का स्वामी और यह सुन्दरी दोनों इतने सुन्दर हैं कि इनके ऊपर पापी होने का संदेह करना पाप का आमन्त्रण करना है। कवि-सम्राट कालिदास ने कहा है:—

"यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति।"

अतएव इस स्थान का आतिथ्य निस्सङ्कोच ग्रहण करना चाहिए।

इतने विलम्ब तक विचार करने से मुझे समय
ध्यान बिलकुल न रहा था। विचार-तन्तु के भङ्ग होने
पश्चात् मुझे अनायास यह ध्यान हो आया कि इस स्
पर टहरे हुए मुझे अत्यन्त विलम्ब हो गया है। मैं
खड़ा हुआ। पीछे घूमकर मैंने देखा कि वही सुन्
थोड़े स्थान के अन्तर से मेरी ओर निर्निमेष खड़े
रही है। मैंने तुरन्त उससे पूछा कि आपको कित
विलम्ब हो गया? आप मेरे निकट क्यों न आ गयीं
उसने मेरी ओर दृष्टिपात करके उत्तर दिया, "मैं य
समझी थी कि आप ध्यानावस्थित हैं। सम्भवत
देवार्चना कर रहे हैं। आप के निकट जाने से आपक
समाधि भङ्ग हो जाने की आशङ्का थी। अतएव मैंने
यही उचित जाना कि इसी स्थान पर स्थित होकर आप
की प्रतीक्षा करूँ। परन्तु आपने तो बहुत विलम्ब लगा
दिया।" मैंने लज्जानत आनन से उसके देर तक खड़े
रहने के कारण कष्ट की क्षमा-याचना की। मैंने यह
भी कहा कि आपको मेरे निकट आ जाना चाहिए था।
आपके निकट आ जाने से देवार्चना-कार्य में किसी प्रकार
की शिथिलता की आशङ्का करना मेरे प्रति आपका
सौकुमार्य भाव प्रदर्शित करता है। आपके आने से कौन

ऐसी बात पैदा हो जाती जिससे भगवान की पूजा में बाधा पड़ती। उसने हँस कर मुँह नीचा कर लिया। बड़े ही मधुर और नम्र स्वर से उसने दो-चार शब्द कहे परन्तु मैं उन्हें सुन न सका। मैंने उसके ये अन्तिम शब्द सुने, 'महल चलिए, भोजन प्रस्तुत है। विलम्ब हो रहा है। आप श्रमित हैं; वहाँ पर श्रम-निवारण करने के लिए विश्राम करें।'

हम दोनों ने प्रस्थान किया। मेरे हाथ में एक हरित नीम की पतली डाल थी। मैं उसे वेग के साथ घुमाने लगा। सारा वायु-मण्डल उससे ध्वनित होने लगा। जितना ही उससे मैं वायु प्रतारित करता था, उतना ही वह सुन्दरी अपने कर्ण-विवरों को अपने सुन्दर कर पल्लवों से आच्छादित करके थोड़ा-सा झुक कर भय सूचित करती थी। इस प्रकार पुनः पुनः उसको नत होते देखकर मेरे चित्त को एक विशेष आल्हाद और विनोद होता था। कृत्रिम भय-प्रदर्शन के विज्ञापन के लिए निरन्तर अङ्ग सङ्कोचन करना अपना विशेष मूल्य रखता था। मेरे हृदय ने उसे परख लिया।

मन ने मानव समाज के प्रति प्रेम का व्यापार करना तो पहले ही निश्चय कर लिया था। शास्त्रों के आदेशों

ने परस्पर झगड़ने वाले दलालों की भाँति सौदा रोक रक्खा था। बुद्धि ने दलालों की भीड़ हटा दी। फिर मन को सौदा करने में क्या विलम्ब था? झट हृदय का मोल तोल होने लगा। नेत्रों को नये दलाल बनाकर सौदे का प्रोग्राम लेकर भेजा गया। वे खरीदार के दलालों से मिले। उसे माल पहले ही से पसन्द था। झट सौदा निश्चय हो गया।

मैंने पुनः एक बार यष्टिका उद्भ्रमित की। उसने पुनः अङ्ग-सङ्कोचन किया। रात्रि को अर्द्ध-सुषुप्त पक्षी इस अनायास प्रादुर्भूत ध्वनि से भयभीत होकर यत्र-तत्र उड़ने लगते थे। मुझे इन पर तनिक भी दया न आयी। इसी अवस्था में हम दोनों महल के अत्यन्त निकट आ गये। इस समय उसकी मौनावस्था मुझे अधिक अच्छी न लगी। मैं यह चाहता था कि वह कुछ सम्भाषण करे। अपना परिचय दे अथवा मुझसे मेरा परिचय प्राप्त करने की चेष्टा करे। मुझे यह आतुरता उत्पन्न हुई कि यह महिला कौन है? प्रणीता है अथवा कन्या? क्या यह इस महल के स्वामी की सहधर्मिणी तो नहीं है? परन्तु फिर यह विचार आया कि यदि यह इस स्थान की स्वामिनी होती तो एकाकिनी इस निर्जन स्थान पर कदापि न

आती। यह कदापि सम्भव नहीं कि कोई अपनी विवाहिता पत्नी को दूसरे के आतिथ्य के हेतु इस प्रकार उपयोग करे, और न कोई भारत-ललना ही ऐसा कर सकती है। सम्भव है यह अविवाहिता बाला हो। इस स्थान के स्वामी के यहाँ यह दासी की अवस्था में अतिथियों का सत्कार करती हो। कुछ भी हो, इससे इस रहस्य का पता तो अवश्य लगाना चाहिए। यह भी इसी से जानना है कि यह कौन स्थान है? इस स्थान के स्वामी का क्या नाम है? इसका राज्य-विस्तार कहाँ तक है?

महल के द्वार तक पहुँचते पहुँचते बड़ा साहस करके मैंने उससे वार्तालाप करने की चेष्टा की। मैंने ऊपर दृष्टिपात करके कहा, "आज का समय बड़ा सुहावना है। चाँदनी भी बड़ी सुहावनी है। वायु भी सुन्दर चल रही है। कितना समय होगा?" सुन्दरी ने उत्तर दिया, "लगभग दस का समय होगा। आप आगे प्रयाण करने में संकोच-सा क्यों कर रहे हैं? स्वामी भोजनों के हेतु आपकी प्रतीक्षा कर रहे होंगे। स्वामिनी ने मुझे आदेश दिया था कि आपको शीघ्र ही भोजनों के लिए आमन्त्रित करूँ, अन्यथा उनके स्वामी को शयन करने में विलम्ब हो जायगा।" मैंने झट उत्तर दिया कि मैं रुक नहीं रहा

हैं । चलिए, मार्ग-प्रदर्शन कीजिए । उसने आगे-अ
प्रयाण किया । मैं भी उसका अनुगामी बनकर चला
उसके सुन्दर शब्दों की मधुरिमा में मन भ्रमर मुग्ध था
कर्ण-विवरों में उनकी झङ्कार अब भी अनुनादित थी
ऐसा प्रतीत होता था कि कोई पुनः पुनः उन शब्दों को
उद्घोषित कर रहा है । मैं अनायास अपना दाहिना कर्ण-
विवर उसके निकट बारम्बार इसलिए ले जाया करता
था कि कहीं वह धीरे से कुछ सम्भाषण तो नहीं करती
है । उसकी शब्द-वर्षा ने मेरी स्नेह लता को हरित कर
दिया । अङ्ग-प्रत्यङ्ग प्रेमोन्माद में मस्त हो गये । एक
कुरसी के निकट पहुँच कर उसने मुझे बैठने का आदेश
दिया । मैं शान्ति से बैठ गया । चारों ओर भोजनों के
लिए लोग उपस्थित थे । मानो मेरा ही विलम्ब था ।
मेरे सम्मुख भी भोजन परोसा गया । वह सुन्दरी भी मेरे
निकट बैठ गयी । प्रत्येक यात्री के निकट एक एक
सुन्दरी उपस्थित थी । सुन्दर नवयुवक भी अपनी रमणी
के साथ मध्य में स्थित था । रमणी क्या थी, संसार के
सौन्दर्य का समुच्चय थी । मेरे तो नेत्र भी उसके निकट
तक न पहुँचते थे । उसके मुख का प्रकाश ऐसा कठोर
द्वारपालक था कि नेत्र उसके निकट तक पहुँचने में

असमर्थ थे।

मेरा चित्त विह्वल होकर विचार करने लगा कि ऐसा सौन्दर्य तो संसार में दृष्टि गोचर ही नहीं हुआ। किससे इसका पटतर दिया जाय। हाँ, यदि ब्रह्मा अपने विचार-मन्दिर में अखिल विश्व का सौन्दर्य और लावण्य समुच्चय कर एक बालिका की काल्पनिक सृष्टि करें और पुनः उसी विचार निर्मित प्रतिमा में जीव सञ्चार करें। शिव जी तृतीय नेत्र का उद्घाटन करके सुमेरु को द्रवीभूत करें और दैवी मिलिन्दों द्वारा विश्व का मकरन्द और पराग एकत्रित करके द्रवीभूत सुमेरु के साथ मिश्रित किया जाय। इस प्रकार जो अगंजा प्रस्तुत हो उसे पूर्णेन्दु की ज्योत्स्ना की त्वचा वाली उस बालिका के विग्रह पर सूर्य रश्मियों द्वारा मर्दन किया जाय। प्रलय दिवस की बड़वानल से उत्तपित, प्रलय-सूर्य की दीधितियों से ज्वलीभूत, प्रलय करने के इच्छुक भगवान भूतनाथ द्वारा वमन किया हुआ अत्यन्त कृष्ण विषहर के सूक्ष्म-तन्तुओं के निर्मित उसके केश हों। स्वयं इन्द्र बिम्बाफलों की रक्तिमा चुराकर उसके ओष्ठ और अधर को लालिमा प्रदान करें। यदु सन्ध्या कालीन सूर्य से उसका लेप

स्वयं शारदा अपनी प्रेरणा शक्ति से उसके कर पल्लवों पर करें। परिपूर्ण कला निदिनाथ का कलङ्क यदी चतुरता से देव-शिल्पि विश्वकर्मा पृथक् करें और उष्णता का पूर्ण बहिष्कार करने की दृष्टि से हिमाच्छादित हिम श्रृङ्ग के अत्यन्त गहन गर्त में भगवान् दिवाकर को अनेक युगों तक निवास कराकर उनका भाग छिन्न करके चन्द्र कलङ्क के रिक्त स्थान की पूर्ति की जाय। इस प्रकार निर्मित रजनीपति यदि उस बाला का मुख हों। विभावरी के अलङ्कार भूत, अत्यन्त प्रकाश वाले तारागण जिसकी दन्तावलि हों। नासिका में करील किसलय के आकार की न्यूनाधिकता और स्निग्धता हो। वासुकी के फणों का शत भाग उसके नेत्रों के तिलों का कार्य करें। स्वच्छ गुलाब पुष्प की भाँति धवलित पत्र पर, शनैश्चर के तेज से सञ्चलन करने वाला विच्छिन्न विग्रह, अस्थिर स्थिर स्थापित करके संसार की स्निग्धता के लेप द्वारा उसके नेत्र-निर्माण किये गये हों। सुन्दर शङ्ख की आकृति और वसन्त किसलय की भाँति स्निग्ध और लोहित उसके कर्ण हों। ग्रीवा सुग्रीव से भी सुन्दरतर हो, कटि में हंस-गति की लोच हो। युगल जङ्घों में वक्षस्थल की शोभा को संवाहन करने की क्षमता हो। पाद-सौन्दर्य

में अपने नेत्रों को सर्वदा आकृष्ट रखने की कान्ति हो। करों और चरणों में द्वितीया के कलाधर उपस्थित हों। सृष्टि की ऐसी सुन्दर कृति का यदि विष्णु सम्वर्धन करें, कामदेव पुष्पबाण से रक्षा करें, तथा रति और लक्ष्मी शृङ्गार करें; तो सम्भव है कि यह इस स्वामिनी की अञ्चल-वाहिका हो सके।

यह रूप-लावण्य मेरे मन मानस में इतना घुल गया कि उसी का प्रभाव मेरे ऊपर दीखने लगा। मेरे निकट स्थित सुन्दरी ने अपने हाथों से मुझे भोजन कराये। एक सुन्दर बर्तन में उसने जल निकाला। यह जल बड़ा सुगन्धित था। परन्तु उसका रङ्ग विलक्षण था। मैंने उसे अपने होठों से लगाया। मालूम होने लगा कि मुझे यह तनिक भी रुचिकर न होगा। परन्तु यह भय था कि मेरे अन्य साथी मुझे मूर्ख समझेंगे। वे यह धारणा बाँध लेंगे कि मैं निर्धन और मूर्ख होने के कारण इस दिव्य पान से परिचित नहीं हूं। इसी विचार से मैंने जैसे तैसे आँख बन्द करके एक प्याला गले से नीचे उतार दिया और उस महिला के विशेष आग्रह से एक और प्याला भी पी लिया। थोड़ी देर तक साधारणतया भोजन करता रहा। शीघ्र ही मैंने देखा कि मेरे मस्तिष्क में कुछ गुद-

गुदी सी मालूम होती है; चित्त में आवश्यकता से अधिक आल्हाद सा प्रतीत होता है। कुछ ही देर में समस्त की वस्तु घूमती हुई दृष्टिगोचर होने लगी। मैं अपने स्थान पर पीछे की ओर झुक कर ऊंघ सा गया। अन्य व्यक्ति भी इसी प्रकार ऊंघते हुए दिखाई देते थे। फिर क्या हुआ यह मुझे नहीं मालूम।

लगभग अर्द्ध रात्रि को मेरी निद्रा खुली। मैंने अपने आपको एक सुन्दर पर्यङ्क पर सोता हुआ पाया निकट सुन्दरी उपस्थित थी। मुझे यह नहीं मालूम कि जेवनार कितनी देर तक हुई। मुझे यह भी नहीं मालूम कि कौन मुझे इस अवस्था में सुला गया था। परन्तु मुझे यह सन्तोष था कि मैं अकेला नहीं हूं। यह सुन्दरी मेरे ऊपर व्यजन कर रही थी। मैंने झट उसके हाथ से व्यजन ले लिया और उससे कष्ट के लिए क्षमा माँगी। उसने बड़े आर्द्र भाव से पङ्खा झलते रहने के लिए आग्रह किया। उसके इस व्यवहार में आकर्षण था। उसकी इतनी उदारता ने मेरे हृदय में शान्ति प्रदान की। मेरी आत्मा उसकी आत्मा से कल्लोल करने के लिए विह्वल हो उठी। इसके पश्चात् के व्यापार का उल्लेख करना कठिन है। हम लोगों ने एक दूसरे के प्रसन्न करने

के लिए कोई बात उठा नहीं रखी। और:—

> "किमपि किमपि मन्दं मन्दमाससियोगात्
> अविरलितकपोलं जल्पतोरक्रमेण,
> अशिथिलपरिरम्भा व्यापृतैकैकदोष्णो
> रविदितगतयामा रात्रिरेव व्यरंसीत्।"

प्रातःकाल कुछ निद्रा सी आगयी। जब आँख खुली तो सूर्य रश्मियां कमरे में बुहारी लगा रहीं थी। मेरे पास कोई न था। मुझे आश्चर्य हुआ कि मेरी सुन्दरी मुझे ऐसी अस्त-व्यस्त अवस्था में छोड़ कर क्यों चली गयी। मैं शीघ्र ही उठा। मुँह हाथ धोकर प्रातःकालीन कार्य से निवृत्त हुआ। प्रातःकालीन सन्ध्या में तनिक भी चित्त न लगा। ध्यान के समय मुझे अपनी सुन्दरी की आकृति समक्ष आ जाया करती थी।

लगभग दस बजे थे। मैं कमरे के बाहर निकल कर सुन्दरी की प्रतीक्षा में इधर-उधर टहल रहा था। पत्ते की खुरक में मुझे उसी के चरणों की आहट जान पड़ने लगी। वायु के झोंकों में उसी के चरणों की झङ्कार सुनने में आने लगी। मैं बार बार कमरे के बाहर जाता था और बार बार भीतर आता था। चित्त की भाँति शरीर भी चञ्चल था। कभी कभी सीढ़ियों से उतर कर

कमरे की मोड़ तक जाकर उसको देख आया करत
किसी प्रकार के अचानक शब्द में उसी के चरणो
आहट मालूम होती थी। एक ओर हियन करील
लय के अनायास आन्दोलन में उसके दुकूल अञ्चल
चञ्चलता का आभास हो जाता था। मुझे ऐसा म
होने लगा कि यदि मैं कमरे में बैठा रहूँगा तो वह
आ जायगी। यह भी प्रयोग व्यर्थ गया। अब यह ख्य
आया कि यदि मैं बरामदे में खड़ा रह कर प्रती
करूँ तो ईश्वर उसे शीघ्र भेज देगा। यह भी विच
व्यर्थ गया। थोड़ी देर के पश्चात् पर्यङ्क-पतित, निरा
में अर्द्ध-निमग्न मुझे कुछ व्यक्तियों के समागम की आह
मिली। मैं बाहर आया। मुझे दूर से दो व्यक्ति आते हु
दिखाई दिये। थोड़ा निकट आने पर मुझे ज्ञात हुअ
उनमें से एक मेरी सुन्दरी है और दूसरा एक सुन्दर
युवक है। यह युवक बड़े हेल मेल से उससे बात कर
रहा था। इस व्यक्ति की बातों से तथा उसके व्यवहार
-से मुझे ऐसा प्रतीत होने लगा कि इसका यह व्यवहार
अनुचित था। परन्तु सुन्दरी इसका प्रतिरोध न करती
थी वरन् इसे अपने व्यापार में प्रोत्साहित करती थी।
मेरे हृदय में अधीरता की कल्लोलें उथल-पुथल करने

लगीं। जान बूझ कर और मुझे सामने देखते हुए भी यह सुन्दरी उस व्यक्ति से बड़े विलम्ब तक बातें करती रही। मानो इसे मेरी कुछ परवाह ही नहीं है। सारे शरीर में चिनगारियाँसी जलने लगी। मेरे मन में न जाने कितनी बातें उठने लगीं। मैं कमरे में चला गया। थोड़ी देर के बाद ये दोनों हँसते और बातें करते हुए मेरे कमरे में आये। मैंने भी अपनी आकृति प्रसन्न कर ली। थोड़ी देर के बाद युवक तो चला गया और सुन्दरी से यह वादा ले गया कि वह दो घण्टे में उससे मिलने आवेगी। मैंने अवकाश प्राप्त करके उस सुन्दरी से अपनी अधीरता की चरचा की। उसके प्रति अपने प्रेम की गाथा सुनायी। वह सब सुनती रही। मैंने हाथ पकड़ कर कुछ कहना चाहा। उसने झट से मेरा हाथ हटा दिया। शीघ्र ही उसने कहा कि समय हो गया। मुझे जाना है। मेरे आग्रह करने पर भी वह बैठी नहीं, चली गयी।

मैं बहुत रोया। बड़ी देर तक इस महिला के इस व्यवहार पर दुःख करता रहा। कभी कभी तो यहां तक भी विचार आने लगे कि उस नवयुवक का वध कर दूं तो वह मुझे प्यार करने लगेगी। इसी विचार का बार-बार अध्ययन करने पर मालूम होने लगा कि उसको बश

में करने का यही एक मार्ग है। मैं कमरे से उठ कर अ
चला! पागल की भाँति न जाने किस ओर चल दिय
इधर-उधर भ्रमण करता रहा। शीघ्र ही मुझे उपवन
का स्वामी मिला। उसने मुझे उदास देखकर मुझे बुलाने
के लिए एक सुन्दरी महिला भेजी। इसको देखकर मैं
दूसरी ओर जाने लगा। इतने में उस पुष्पधारी व्यक्ति
ने पुष्प बाणों का प्रक्षेप वहीं से मेरे ऊपर किया। मैं
रुककर उस महिला से बातें करने लगा। उसने सब
से पहले मुझसे मेरी सुन्दरी के विषय में पूछा और मुझसे
यह जानकर कि वह एक नवयुवक के साथ चली गयी
है, बहुत हँसी। फिर एक वृक्ष की छाया में बैठकर उसने
मेरे साथ सहानुभूति प्रकट की। मैंने अपनी सुन्दरी की
प्रशंसा करना आरम्भ कर दिया और वह मुस्कराते हुए
सुनती रही। अन्त में कहने लगी—

"जब इतनी बेवफ़ाई पर उसे दिल प्यार करता है।
तो गर वह बावफ़ा होती तो यारब और क्या होता"

मुझे भी यह शेर सुनकर कुछ मुस्कराहट आ गयी।
महिला इतनी घुल-घुल कर मुझसे बातें करने लगी
मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि वह बहुत ही अच्छी
ी है। मैंने एक बार सहसा साहस करके उसके

कह दिया।

"मेरे इस उन्मूलित जीवन-वृक्ष को क्या तुम अपने विश्वास की हृदय-भूमि पर नहीं लगा सकतीं ? क्या अपने स्नेह-जल से इसे हरा-भरा नहीं कर सकतीं ? क्या अपने प्रेम की उष्णता से और अपने अधीर श्वासु-पुञ्ज की वायु से इसे फिर जीवित करने का कष्ट नहीं उठा सकती ?" महिला ने हँसकर उत्तर दिया "यदि आप उस सुन्दरी को भूल जायँ।" एक श्वास लेकर मैंने कहा, 'वह तो भूली ही है।'

बस यह सुन्दरी मेरे साथ निवास करने लगी। मैंने इसे भी अपना हृदय अर्पित कर दिया। थोड़े ही दिन व्यतीत हुए थे कि इसके व्यवहार में भी रुखायी आ गयी। इसका एक कारण मेरी अधीरता भी थी। अपनी मूर्खता में मैं केवल यही चाहता था कि यह चौबीसों घंटे मेरे ही निकट रहे। वह मुझे इतना कम चाहती थी। बस कहा-सुनी आरम्भ हो गयी। अन्त में इस महिला ने भी मेरा परित्याग कर दिया। अनायास एक अन्य रमणी से भेंट हुई। मेरे बहते हुए दिल में से कुछ कतरे इसने भी अपने हृदय में एकत्रित करना चाहे। इससे भी मैं संलग्न हो गया। बहुत हिल-मिल कर रहने लगे।

परन्तु ऐसा प्रतीत होने लगा कि जीवन का सुख यहाँ नहीं है। किसी बहुत बड़ी चीज़ की कमी है। धीरे-धीरे इस नवीन रमणी का भी विच्छेद हो गया। मन को इस नवीन वियोग से कोई अधिक कष्ट न हुआ। परन्तु चित्त कुछ टूटता सा मालूम होता था। जब-जब उदासीनता हुई तब-तब पुष्पबाण-धारी स्वामी के शरों के आघात से चित्त फिर प्रसन्न होकर आनन्द से रहने की ओर प्रेरित हो जाया करता था।

उस रम्य आराम में थोड़े काल में ही न मालूम कितनी महिलाओं से प्रेम हुआ परन्तु किसी में भी विश्वास न पाया। शीघ्र ही अपने प्रेम में ही सन्देह होने लगा। मैंने सोचा कि प्रेम क्या है यह किसी से समझना चाहिए। इस विचार के दूसरे ही दिन मुझे सुनने में आया कि एक सज्जन 'संतों के प्रेम' के सम्बन्ध में व्याख्यान देने के लिए आये हैं। जिस स्थान पर वह व्याख्यान देना चाहते थे वह इस सुन्दर उपवन से बाहर था। मैंने अपनी पत्नी से वहाँ जाने का मन्तव्य प्रकट किया। परन्तु उसने इसका विरोध किया। जब बग़ीचे के स्वामी ने यह बात सुनी तो उन्होंने भी विरोध किया। परन्तु मैं अपनी बात पर डट गया। अत-

पर उन्होंने मेरी स्त्री को आदेश दिया कि व्याख्यान सुना कर वह शीघ्र मुझे लिवा लावे।

सभा आरम्भ हो गयी। हम दोनों एक कोने पर जाकर बैठ गये। सभापति ने कहा, "आज स्वामी प्रेमानन्द जी अपना व्याख्यान सन्तों के प्रेम के सम्बन्ध में देंगे।" स्वामी जी करतल ध्वनि के साथ खड़े हुए और उन्होंने अपना व्याख्यान आरम्भ किया।

श्रीमान् सभापति जी तथा अन्य उपस्थित सज्जनों,

सन्तों के प्रेम का मर्म अवगत करना उतना ही कठिन है जितना प्रेम करना। अनुभूत प्रेमियों की 'अविगत गति' कुछ कही नहीं जा सकती। 'गूँगे के गुड़' की भाँति अन्तर ही में 'तोष' उपजा सकती है। जितना ही इस प्रेम के परिभाषित करने का प्रयास किया जाता है, उतना ही मृग-तृष्णा की भाँति यह बुद्धि को उद्भ्रमित कर देता है। हाँ, यदि अत्यन्त प्रेम-कातरता से अधीर हृदय की मूक-कम्पन में आश्वासन का उच्छ्वास शब्द प्रदान करे, तो संभवतः प्रियतम के चरणों की आहट में संलग्न कर्ण उनमें प्रेम का राग सुन सकें। प्रेम का महत्व प्रेमी ही अनुभव कर सकता है—

लुत्फ़े मय तुमसे क्या कहूँ ज़ाहिद;
अरे कमबख़्त तूने पी ही नहीं।

'ग़ालिब'

प्रेम मर्त्य-समाज की अमर्त्य सम्पत्ति है। इसमें प्रलय
और विकास का अलौकिक सामञ्जस्य है। पूर्ण प्रलय में
पूर्ण विकसित स्वरूप प्रत्यक्ष होता है। प्रेमी को
प्रलय में ही अभीष्ट का पूर्ण साक्षात होता है। प्रेम की
अतिरेक-जनित आन्तरिक-क्रान्ति की उथल-पुथल में
सारे पार्थिव विग्रह के सारे परिमाणु थिरक-थिरक कर
क्षमता की परिधि का भी उल्लंघन कर दैवत्य का अनु
भव करने की चेष्टा करते हैं। प्रत्येक परिमाणु जड़त्व
जीवत्व के विनिमय का प्रलय करता है। महात्मा
कबीर दास जी कहते हैं:—

"पूवे पीउे मत मिलो, कहै कबीरा राम।
खोटा माटी मिल गया, तब पाया केहि काम।"

कितनी सुन्दर और पवित्र विनय है। कबीर दास
अपने पार्थिव शरीर के प्रत्येक परिमाणु को चेतन
बनाना चाहते हैं। इसका कविता में कैसा सुन्दर
निरू समावेश है।

प्रेम ही प्रलय का मुख्य कारण है और सृष्टि का मुख्य

हेतु है। प्रेम ही जीवन-मरण का प्रधान व्यवधान है। प्रेम ही जीवन का आनन्द है।

"अगर दर्दे-मोहब्बत से, न इंसाँ आशना होता,
न मरने का सितम होता, न जीने का मजा होता।"

'गालिब'

प्रेम उत्सर्ग की सर्वोत्कृष्ट दीक्षा है और तितिक्षा का अन्तिम सोपान है। कल्पना-क्रीड़ा के लिए प्रेम साम्राज्य एक विस्तृत क्षेत्र है। उसमें सजीव को निर्जीव तथा अजीव को सजीव करने की शक्ति है। प्रेमी प्रियतम के लिङ्ग भेद, वय तथा काल की उपेक्षा नहीं करता। फारसी वाले चाहे उसे आशना बनावें; संस्कृत वाले चाहे प्रियतम कहें; कोई भेद नहीं। जिस भाव से जो अधिक प्रेम कर सके वही उसके लिए ठीक है। प्रेम की वेदना में विश्व-कम्पन करने का बल है।

"अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्।"

वज्र का हृदय भी विदीर्ण हो जाता है और पत्थर भी फूट-फूट कर रोने लगता है। प्रियतम का संस्पर्श प्रेमी के लिए प्राण है। उसे वह प्रत्येक दशा में, प्रत्येक काल में तुरन्त पहचान लेता है। जंगल में एकाकी विचरण करते हुए सीता-वियोग-व्यथित, मूर्च्छा प्राप्त श्री रामचन्द्र

अदृश्य-रूप धारिणी सीता द्वारा संस्पर्शित होकर तुरन्त ही संज्ञा प्राप्त करके कहने लगते हैं:—

"स्पर्शः पुरा परिचितो नियतं स एष
संजीवनश्च मनसः परिमोहनश्च ;
संतापजां सपदि यः प्रतिहृत्य मूर्छां-
मानन्दनेन जड़तां पुनरातनोति ॥"

'भवभूति'

अवश्य ही यह पूर्व-परिचित स्पर्श है। यह मन को जीवन का प्रदान करने वाला और मोहने वाला है। वियोग सन्ताप से उत्पन्न मूर्च्छा को तो इसने दूर कर दिया परन्तु आनन्द-जनित जड़ता मस्तिष्क पर साम्राज्य कर ही है।

वास्तव में इस स्पर्श को क्यों न इतनी शीघ्रता से [अ]नुभव किया जाय। यह तो उनका स्पर्श है जिनके [दर्श]न मात्र से उनका जीव कुसुम विकसित हो जाता है।

"म्लानस्य जीव कुसुमस्य विकासनानि,
सन्तर्पणानि सकलेन्द्रिय मोहनानि;
एतानि ते सुवचनानि सरोरुहाक्षि,
कर्णामृतानि मनसश्च रसायनानि ।"

'भवभूति'

कैसी अद्भुत तल्लीनता है। सन्तापोत्पन्न मूर्च्छा और आनन्द-जनित जड़ता का कैसा सुन्दर विश्लेषण किया गया है। भला ऐसे प्रियतम के स्पर्श परिचय का विद्युत् प्रभाव क्यों न हो? यदि प्रेम में इतनी शक्ति न होती तो नेत्रहीन सूरदास जी श्री कृष्ण का सुन्दर-स्वरूप कैसे देखते? यह तो बात ही कुछ और है। स्पर्श तो दूर रहा; देखिए राधा जी केश की न्योरनि ही देखकर अनायास कह उठती हैं:—

"कैई कर न्योरनि वही, न्योरो और विचार।"

और उसी समय हृदय का मूक स्वर शब्दायमान हो उठता है:—

"जिनहीं उरझ्यो मो हियो तिनहीं सुरझ्यो बार।

'बिहारी'

प्रियतम चाहे जैसा रूप बनाकर आवे, चाहे बहुरूपिये का स्वाँग रचे, परन्तु प्रेमी के नेत्रों को धोखा नहीं दे सकता। उससे कोई भेद नहीं छिपा सकता। प्रेम के अलौकिक दिव्य चक्षु हैं। उनमें अचूकता है। अपने अभीष्ट का परिवर्तित रूप देख कर एक कवि कह उठता है:—

"अजब रूप धर कर आये हो, छवि कहूँ या नाम कहूँ
रमण कहूँ या रमणी कहूँ, रमा कहूँ या राम कहूँ
नीर बने तुम चीर रहे हो, सौदामिनि अभिराम कहूँ!
मोर नचाने, ग्वाल हँसाने, या जलधर घनश्याम कहूँ!
हृदय-प्रदेश उजाला-सा है, उन्हें चन्द्रिका कहूँ क्या!
चमको नील नभोमण्डल में, बाल चन्द्र प्यारे आहा!"

'माखनलाल चतुर्वेदी'

प्रेमी की दृष्टि में स्त्री के वेश में पुरुष और पुरुष के वेश में स्त्री छिप नहीं सकती। वे तो सभी वस्तुओं को लिंग-भेद से परे देखते हैं। सच्चे प्रेमी को स्त्री, पुरुष, बालक और बूढ़े से क्या काम? संसार का रूप-सौन्दर्य उनके समक्ष क्या मूल्य रखता है? लैला का बाह्य सौन्दर्य मजनूं के ध्यान में भी कभी न आया था। वहाँ बात ही दूसरी है—

"अति अगाध अति औथरे, नदी, कूप, सर, बाय।
सो ताको सागर जहाँ, जाकी प्यास बुझाय॥"

'बिहारी'

...र ऐसी तन्मयता है, तो पहचान में विलम्ब कैसा!
...का छोर से कौन परिचय कराता है? प्यारे को
...न दिखलाता है? गया जो मीत बनकर मम चीर

सकता है, और जिसमें हृदय-प्रदेश को उजाला करने की सामर्थ्य है, उसके पहचानने में विलम्ब कैसे हो सकता है? परन्तु बात साधारण नहीं है:—

"या अनुरागी चित्त की गति समुझै नहीं कोय।
ज्यों-ज्यों भीजै श्याम रँग, त्यों-त्यों उज्ज्वल होय॥"
'बिहारी'

चित्त की इस अनुरागी गति को वास्तव में कोई प्रेमी ही समझ सकता है। परन्तु किस कोटि का प्रेमी? कोई साधारण प्रेमी नहीं, वरन् अपने को नाश किये हुये कोई मतवाला पागल जिसने आत्म-विनाश में ही आत्म-विकाश देखा है।

"धीरों किया जब आपको, हस्ती नजर पड़ी।
जब आप नेस्त हम हुये, हस्ती नजर पड़ी॥"
'गालिब'

इसी लिए तो कबीर दास जी कहते हैं:—

"सीस उतारे भुईं धरे, ता पर राखै पाँव।"

तब कहीं प्रेम-गली में विचरण करने का अधिकारी हो सकता है।

प्रेम न बाड़ी ऊपजै, प्रेम न हाट बिकाय।
राजा परजा जेहि रुचै सीस देहि लै जाय॥
'कबीर'

प्रेम का प्रमाद जीवन-भर रहता है। मलूकदास जी
मृत्यु-पर्य्यन्त मतवाले फिरते रहे और अन्त में उन्हें कहना
ही पड़ा:—

'कठिन पियाला प्रेम का,पिये जो प्रेमी हाथ,
जीवन-भर माता फिरै, उतरै जिय के साथ।

परन्तु ऐसे प्रेमी कोई साधारण व्यक्ति नहीं हैं।
ये तो अलमस्त हैं।

"उनकी नज़र न आवने कोई राजा-रंक,
बन्धन तोड़े मोह का फिरते हैं निश्शंक।"

'मलूकदास'

ऐसे ही प्रेमियों के सम्बन्ध में कबीरदास जी कहते
कि उनकी मृत्यु ही नहीं होती। मृत्यु कैसे हो? वे तो
वन-मृत हो जाते हैं। देहावसान के पश्चात् की तो
ही और है, देह में भी वे सांसारिक व्यक्तियों से
रहते हैं। उन्हें किसी की हँसी का भय नहीं है।
वे तो "सन्तन ढिग बैठि-बैठि लोक लाज खोई"
प्रेमियों को जाति-पाँति का कुछ विचार नहीं
सुन्दरता और कुरूपता का इनकी दृष्टि में कोई
नहीं होता। वे तो अपने हृदय में प्रेमी का
वनिक प्रतिबिम्ब पाते हैं। उसी की जुस्तजू में

ियाने घूमते हैं। उन्हें पागल कहाने में ही आनन्द आता
है। कवि 'देव जी' की प्रेम दिवानी सखी कहती हैः--

काहू की कोऊ कहावति हौं नहिं. जाति न पाँति न तासों रुचौंगी।
ौरियै हाँसी करौ कित लोग, हौं को 'कवि देवजू' काहू दुरौंगी॥
ोकुलचन्द की चेरी-चकोरी हौं, मंद-हँसी मृदु-फंद फसौंगी।
री न बात बकौ अलि कोउ, हौं बौरियै ह्वै ब्रज-बीच बसौंगी॥"

बोरयो बंस बिरुद में बौरी भई बरजत,
मेरे बार-बार बीर कोऊ पास बैठो जनि,
बिगरी अकेली हौं ही, सिगरी सयानी तुम,
सौहन मे छाड्यो, मो सों भौंहन अमैठो जनि,
कुलटा, कलंकिनी हौं, कायर, कुमति क्रूर,
काहू के न काम की, निकाम याही पैठो जनि,
'देव' तहां बैठियत, जहां बुद्धि बढ़े, हौं तो,
बैठी हौं बिकल, कोऊ मोहि मिलि बैठो जनि।

बैठी है। फिर उससे मिलने से क्या लाभ!

क्या निराला प्रेम है। कैसा अलौकिक विराग
प्रेमी के लिए अभीष्ट-जन के अतिरिक्त है ही कौन!
क्यों किसी की वाचालता की परवाह करें? सांसारि
आलोचनाएं समय-गति पर निर्भर हैं। उनका उद्ग
स्थान मानवी निर्बलता है। उनकी आधार शिला भ
पर व्यस्त है। वह शीघ्रता से मानवी-विचार बाहुल्य के
झोंके में कम्पायमान हो जाती है। उसकी स्थिति अस्थिर
और क्षणभंगुर है। परन्तु सच्चे प्रेम का आधार पुन
सुदृढ़ है। काल, अवस्था, व्यक्ति-भेद के अन्तर से उसका
निरूपण नहीं होता। संस्कृत कवि भवभूति प्रेम की कुछ
मर्यादा तक पहुँचने हैं जब वे कहते हैं।

"अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगुणं सर्वास्ववस्थासु यद्
विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन्नहार्यो रसः,
कालेनावरणात्ययात् परिणते यत् स्नेह सारे स्थितं
भद्रं प्रेम सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत् प्राप्यते।

यह प्रेम सर्वावस्था में अपने गुण को नहीं छोड़ता।
वह सुख-दुख में सम रहता है। उसमें हृदय को विश्राम
मिलता है। वृद्धावस्था के कारण उसका रस क्षीण नहीं
होता। कालान्तर में भी उसकी स्थिति में कोई परिवर्तन

नहीं होता। वास्तव में ऐसा प्रेम धन्य है। धन्य हैं वे जिनमें इस प्रेम का बीज वपन हुआ है। मान गर्वादि से रहित, सुख भोग की लालसा से पृथक अत्यन्त नम्र शीतल विशुद्ध प्रेम की झलक का विवरण मलिक मुहम्मद जायसी ने पद्मावत में नागमती के शब्दों से कहलाया है।

"मोंहि भोग सो काज न बारी।
सौंह दीठि कर चाहन हारी॥"

आगे भी कहा है:—

"ना मैं स्वरग क चाहौं राज ना मोहिं नरक सेति कछु काजू।
चाहौं ओहिकर दरसन पावा, जेहि मोंहि आनि-प्रेम पथ लावा॥"

प्रेम और वासना का इतना सुन्दर विश्लेषण बहुत कम दृष्टिगत होता है। प्रेम बिना सब सूना है। एक भक्त का कथन है।

"तीन लोक चौदह भुवन, सब परे मोहिं सूझि।
प्रेम छाँडि नहिं लोन कछु, जो देखा मन बूझि॥"

प्रताप नारायण जी कहते हैं:—

"जहाँ तक सहृदयता से विचारियेगा वहाँ तक यही सिद्ध होगा कि प्रेम के बिना वेद झगड़े की जड़, धर्म क बे-सिर-पैर के काम, स्वर्ग शेखचिल्ली का महल और मुक्ति प्रेत की बहन है।"

अगर इतनी खूबी प्रेम में न होती तो क्यों क
समें चिपटा रहना ? प्रेम में विरह है। विरह में मिठा
। कड़ुवेपन में माधुर्य है। प्रेम के शरीर में विरह
वन है। प्रेम की वृद्ध में विरह साधन है। प्रेम के
य का विरह मार्ग है। प्रेम मुक्ति और विरह मंत्र है।
पिता और विरह पुत्र है। विरह की तड़पन में प्रेमी
अर्द्ध साक्षात होता है। विरह की वेदना में प्रेमी की
ना का स्फुरण होता है। विरह की अन्तिम सीमा
ह की औषधि है।

"दर्द का हद से गुज़रना है, दवा हो जाना।"

विरह की गाथा में विश्व का इतिहास है। विरह के
कों में संसार का माधुर्य है।

Our sincerest laughters are
with pain wrought,
ur sweetest songs are those
that tell of saddest thought."

को अपना दर्द-दिल लिए लिए घूमने में ह
ाता है। दर्द ही उसका जीवन है। दर्द का
ु का आमन्त्रण करना।है। दर्द शरीर-हनन
रन्तु उसका नाश नहीं करता। अत्यन्त विरह

: उसे अत्यन्त आनन्द आता है। यह मृत्यु में जीवन
नुभव करता है। सीता-विरह व्यथित राम कहते हैं:-

"दलति हृदयं गाढोद्वेगः द्विधा न तु भिद्यते,
वहति विकलः कायो मोहो न मुञ्चति चेतनाम्।
ज्वलयति अन्तर्दाहः करोति न तु भस्मसात्,
प्रहरति विधि मर्मच्छेदो, न कृन्तति जीवितम्॥"

गाढ़ो-द्वेग हृदय को दहन करता है, परन्तु उसे
विदीर्ण नहीं करता। विकल शरीर मूर्च्छित हो जाता है
किन्तु सर्वदा के लिए निसंज्ञ नहीं हो जाता। तन को
अन्तर-ज्वाल जलाती है, पर भस्म नहीं करती। मर्मच्छेदन
होता है किन्तु जीव का उच्छेद नहीं होता।

जीव का उच्छेद हो कैसे ? यहां तो प्रियतम की
मूर्ति साक्षात् विद्यमान है। रामचन्द्र जी अपना विनाश
भले ही चाहें, परन्तु प्रियतमा का बाल बाँका न होना
चाहिए। तुलसीदास जी रामचरित-मानस में इस प्रेम
की सूक्ष्मता तक पहुँच जाते हैं। जब रावण के वध के
सम्बन्ध में स्वयं रामचन्द्र जी कहते हैं:—

"याके हृदय बस जानकी, मम जानकी उर बास है।
मम उदर भुवन अनेक लागत बाण सब को नाश है॥"

केवल स्मरण मूर्ति के विनाश से साक्षात् का विनाश

सोचना कितना सूक्ष्म विचार है उसे कौन समझे? अच्छा हो, उसे कवि की नैसर्गिक कल्पना कहकर ही टाल दिया जाय। यदि प्रेम के समझने में कोई ऐसी निहित बात न होती तो श्री रामचन्द्र जी उसे हनुमान जी को समझा कर सीता के पास भेजते परन्तु वे तो सीता जी के लिए केवल इतनी ही बात कहते हैं:—

"तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा, जानत प्रिया एक मन मोरा,
सो मन रहत सदा तोहि पाहीं, जानि लेहु बस इतने हि माहीं।"

'तुलसीदास'

'इतने हि माहीं' में संसार की कौन-कौन सी बातें छिपी हैं यह तो ईश्वर ही जाने, परन्तु प्रतीत ऐसा होता है कि इतना कहते-कहते श्री रामचन्द्र जी का गला भर आया, नेत्र डबडबा आए और वे आगे कुछ न कह सके।

परन्तु उधर यह सारा तत्व मूक भाषा से ही सीता के हृदय में अंकित हो गया। किसी टीका की आवश्यकता नहीं, किसी के समझाने की जरूरत नहीं। प्रियतम सदा उनके पास है। वह सबसे बड़ा भाष्यकार है। कोई दूसरा नहीं होता है तभी वह अपनी टीका स्वयं करता है।

"तुम मेरे पास होते हो गोया, जब कोई दूसरा नहीं होता।"

। 'मोमिन'

मन-भावन का मन, मन-भावन से भी अधिक मूल्य-वान है। सीता के हृदय में उनके मन-भावन का चित्र है। वही मन-भावन, जिसके लिए मतिराम कहते हैं:—

"सपनेहू मन भावनो करत नहीं अपराध।"

इसी से मान करने की साध मन-ही-मन में रह जाती है। परन्तु वह अपराध करे कैसे? वह तो अपराध कर ही नहीं सकता। उसमें तो सब गुण ही गुण हैं। उसने अपना स्थान प्रेमी के हृदय में सुदृढ़ बना लिया है। वे मूर्ख हैं, जो उसे इधर-उधर देखते हैं। कविवर रवीन्द्र जी उन्हें सन्देश देते हैं:—

"Who are you to seek him like a
Beggar from door to door,
Come to my heart and see
His face in the tears of my eyes."

आप क्यों एक भिखारी की भाँति उसे दरवाज़े-दरवाज़े ढूँढ रहे हैं? मेरे हृदय के निकट आइए और उसका दर्शन मेरे अश्रुओं में कीजिए।

परन्तु आसुओं की धारा चौबीसों घण्टे तो नहीं

है ? इसका भी उत्तर कविवर मतिराम जी बड़े
शब्दों में देते हैं:—

"बिन देखे दुख के चलहिं, देखे सुख के जाहिं
कहो लाल इन दृगन के, अँसुवाँ किमि ठहराहिं।"

अब तो चौबीसों घण्टे दर्शन हो सकते हैं। केवल
की आवश्यकता है। इस लगन में अभीष्ट का स्वरूप
प्रत्येक जीर्ण खण्ड में आरसी के टुकड़ों की भाँति
बिंबित करने की शक्ति होती है और इन्हीं प्रति-
आरसी के टुकड़ों को फिर एक कर देने का
प्रियतम के दृष्टिपात से प्रेमी का दुख आधा हो
।

'मिटहिं बिलोकि सकल दुख कैसे
चितव गरुड़ लघु ब्यालहिं जैसे।'

'तुलसी'

इतने इशारे से ही सीता के ऊपर अमृत वर्षा हो
ी। जायसी की धारणा है:—

"सूखि बेलि पुनि पलुहई, जो पिउ सींचै आव।"

बेलि' की तो बात ही क्या? यदि सूख-बेलि भी
प्रियतम के दृष्टि-विशेष से ही हरित हो सकती है।

प्रेमी को सारी प्रकृति में अपना ही रंग देख पड़ता है। जान पड़ता है कि पलाश में उसी के विरह की अग्नि है। सन्ध्या-सूर्य में उसी के विरहानल की लपट है। मंजीठ और टेसू भी उसी के रक्त अश्रुओं से धौत हैं। मेघ भी उसी के विरहानल में रञ्जित वीर-बधूटी की वर्षा करता है। बसंत की लालिमा उसी के हृदय का प्रतिबिम्ब है। योगी यती के गेरुए वस्त्रों में उसी का प्रभाव है। कोयल की कूक में उसी के प्रेम की फरियाद है। कौवे और भौरों की कालिमा में उसी के विरहाग्नि की लपट लग गयी है। क्योंकिः—

"जेहि पंखी के नियर होइ, कहै विरह की बात,
सोई पंखी जाइ जरि, तरुवर होई निपात।"
'जायसी'

इसीलिए काग और भौंरे से प्रियतम के पास सन्देश भेजते हुए प्रेयसी कहती हैः—

"पिय सों कहेउ संदेसवा, हे भौंरा, हे काग,
सो धनि विरहै जरि मुई, जेहिक धुँवा हम लाग।"
'जायसी'

कितनी विश्वव्यापिनी विरहाग्नि है। कितना अधिक इसका प्रभाव है। सारा विश्व इससे धधोता है। मुहम्मद साहब कहते हैः—

"मुहमद चिनगी प्रेम की, सुनि महि गगन डराय।
धनि विरही अरु धनि हिया, जहँ यह अगिन समाय॥"

यह विरह की चिनगी वास्तव में बड़ी प्रबल है। प्रेमी को बड़ा आश्चर्य होता है, यदि प्रकृति उससे आ[illegible] क्रान्त न हो। भक्त शिरोमणि सूरदास जी की सखि[illegible] मधु-वन को हरा देखकर कह उठती हैं:—

"मधुबन, तुम कित रहत हरे?
विरह-वियोग श्याम सुन्दर के ठाड़े क्यों न जरे।"

वास्तव में इन विरह-दग्धा सखियों को मधुबन को हरा देखकर बड़ा आश्चर्य होता है। वे अपनी हृदय-दाहक पीर को प्रकृति में सन्निवेश करना चाहती हैं। वे अपने हृदय का दग्ध प्रतिबिम्ब बाहर देखने की चेष्टा करती हैं। प्रकृति की सहानुभूति से उन्हें बल मिलता [illegible]। उसकी प्रतिकूलता से उनकी व्यथा और बढ़ती है। [illegible]क शिरोमणि तुलसीदास जी ने अपने 'रामचरित-मानस' [illegible] इसी भाव को बड़ी सुन्दरता से व्यक्त किया है:—

[illegible]तन किसलय मनहुँ कृसानू, काल निशा सम निसि शशि भानू,
[illegible]लय-विपिन कुंत-बन सरिसा, बारिधि तपत तेल जनु बरिसा।
[illegible] वह रहों करइ सोइ पीरा, उरग स्वास सम त्रिविध समीरा॥"

सूरदास जी की विरहिणी सखियों की दशा देखिये। वे चाँदनी रात्रि की वेदना-वर्णन करती हैं:—

"अब मोंहि निसि देखत डर लागै,
बार-बार अकुलाइ, देह से निकसि-निकसि मन भागै।"

वास्तव में यदि जीव-तन्तु शरीर को मन से बाँधे न रहे, तो यह न जाने कब उड़कर विरह-ताप की अधीरता के वाष्प-यान पर चढ़कर प्रियतम के निकट पहुँच जाय। इसी बन्धन की खींच के कारण 'निकसि-निकसि' कर भागने पर भी यह, कहीं नहीं जा सकता। परन्तु बार बार अनवरत रूप से 'निकसि-निकसि' भागने का प्रयत्न प्रकट करता है कि लगन बड़ी ज़बरदस्त है। प्रियतम के बिना कैसे शान्ति से रहा जाय।

"प्रियतम नहीं बजार में, वहै बजार उजार,
प्रियतम मिलै उजार में, वहै उजार बजार।
कहा करौं बैकुण्ठ लै, कल्पवृक्ष की छांह,
'अहमद' ढांख सुहावने, जहं प्रीतम गल बांह॥"

'अहमद'

भक्त शिरोमणि कबीरदास जी भी बैकुण्ठ जाने तक को प्रस्तुत नहीं।

"राम बुलावा भेजिया, कबिरा दीन्हा रोय,
जो सुख प्रेमी-संग में, सो बैकुण्ठ न होय।"

वह सुख बैकुण्ठ में कैसे हो। वहाँ तो बिलकुल सुख ही सुख है। विरह-वेदना कहां है? प्रियतम के लिए तड़पने का अवकाश कहां है? प्रेम के परिचय देने का विधान कहां है? फिर कबीर उसे क्यों चाहें? यहाँ नहीं कुछ लोगों ने तो स्वर्ग की कल्पना भी प्रेम-मय की है।

"All that we know of Heaven above,
Is that they live and that they love."
'Scott.'

एक अंग्रेज़ की धारणा है कि स्वर्ग के विषय में जो कुछ हम जानते हैं, वह यह कि लोग वहाँ निवास करते हैं और प्रेम करते हैं। परन्तु प्रेमी का स्वर्ग तो प्रियतम है। वह उसी की चिन्ता में मस्त रहता है। वहीं उसे स्वर्ग का आनन्द है। वह गुरु और गोविन्द में गुरु को ही पसंद करता है। वह तो अपना सब कुछ विनाश करके प्रियतम के ही स्वार्थ लगाना चाहता है।

"रात दिवस बस यह जिउ मोरे,
लगौं निहोर कन्त अब तोरे।"

"या तन जारौं छार कै, कहौं कि पवन उड़ाव,
मकु तेहि मारग उड़ि परै, कन्त धरै जहं पांव।"
'जायसी'

इसी भाव को एक संस्कृत कवि ने व्यक्त किया है। उसकी याचना है कि मृत्यु के उपरान्त, उसके शरीर के जल का अंश उस नीर में मिले जहां उसका प्रियतम स्नान करता है। उसके शरीर के ज्योति का अंश उस मुकुर में मिल जाय, जिसमें उसका अभीष्ट मुंह देखता है। जिसमें वह सदैव उसके समक्ष रहे। आकाश का अंश उस आकाश में लीन हो जो कि प्रियतम के गृह के ऊपर है। जिसमें ज्यों ही वह ऊपर दृष्टि करे, प्रियतम का दर्शन मिल जाय। पृथ्वी का भाग उस पृथ्वी में जाकर मिल जाय जहां वह विहार करता है, जिसमें प्रेमी को उसके पादस्पर्श का लाभ मिल जाया करे। और वायु का भाग उस व्यजन की वायु में मिले जिसे प्रियतम प्रयोग करता है जिसमें कि निरन्तर उसका स्पर्श होता रहे। कितना प्रगाढ़ प्रेम है। कितनी प्रेम मयी निष्कलंक याचना है। कितना बलिदान है।

इधर देखिये कृष्ण रंग राती 'ताज' 'श्यामला सलोने'

के मृदुल फंद में फँस कर हिन्दुआनी होकर रहने में भी तैयार हैं।

> सुनो दिल जानी, मेरे दिल की कहानी तुम,
> दस्तही बिकानी बदनामी भी सहूंगी मैं।
> देव पूजा ठानी, मैं निवाज हू भुलानी,
> तजे कल्मा कुरान, सारे गुनन गहूंगी मैं।
> श्यामला सलोना सिरताज सिर कुल्लेदार,
> थारे नेह दाग में, निदाघ ह्वै दहूंगी मैं।
> नन्द का कुमार कुर्बान ताणी सूरत पै,
> ताण नाल प्यारे, हिन्दुआनी ह्वै रहूंगी मैं।
>
> 'ताज'

आगे देखिये भक्त-प्रवरा मीरा बाई अपना शरीर विनाश करने को प्रस्तुत हैं:—

> "कागा सब तन खाइयो, चुनि-चुनि खैयो मांस।
> द्वै नैना मत खाइयो, प्रिय-दर्शन की आस॥"

कितनी बलवती दर्शन की आशा है। क्या है यदि नेत्रों को भी कौवे खा जांय? प्रेम चक्षु तो हैं ही। और फिरः—

> "दिल के आइने में है तस्वीरे-यार,
> जब ज़रा गर्दन झुकाई देखली।"

परन्तु यह तस्वीर सब के आइने में नहीं होती। सब का आइना इतना स्वच्छ भी नहीं होता। किसी का आइना धुँधला और किसी का बेकार होता है। किसी किसी के आइने में प्रतिदिन प्रियतम उत्पन्न और विलीन होते रहते हैं और हृदय-पट पर चलित चित्र कला की भाँति अनेक प्रतिबिम्बों के निरन्तर चलने का दृश्य दिखलायी देता है। वासना का टिमटिमाता हुआ खद्योत-प्रकाश ही उसका जीवन-आधार है। परन्तु इन निर्बल हृदयों की यहाँ बात नहीं। इन बहु-मनस्कों को कभी सन्तोष नहीं मिल सकताः—

"कबिरा या जग आइके, कीया बहुतक मिन्त,
जिन दिल बाँधा एक से, ते सोवैं निह चिन्त।"

'कबीर'

और उस एक के प्रति भीः—

"छन हि चढ़ै छन उतरै, सेतो प्रेम न होय,
अघट प्रेम-पिंजर बसै, प्रेम कहावै सोय।"

'कबीर'

यहाँ तो उस प्रेम की चर्चा है जिसकी ठेस बड़े-बड़े अनुभव करते हैं। योगी, यती, विरागी, सन्यासी, सभी को उसके सामने सिर झुकाना पड़ता है। शकुन्तला को

प्रस्थान करते देख महर्षि कण्व अपनी व्यथा कहते हैं। यह केवल मानवी दुर्बलता का ही एक झोंका था। परन्तु इसमें कितनी अधिक सत्यता है।

> "यास्यत्यद्य शकुन्तलेति हृदयं संस्पृष्टमुत्कण्ठया,
> कंठः स्तम्भित वाष्प वृत्तिकलुषश्चिन्ताजडं दर्शनम्,
> वैक्लव्यं मम तावदीदृशमिदं स्नेहादरण्यौकसः,
> पीड्यन्ते गृहिणः कथं न तनया विश्लेषदुःखैर्नवैः।"
>
> 'कालिदास'

आज शकुन्तला प्रयाण करेगी इस बात से हृदय त्कण्ठा से परिपूर्ण है; गला रुंध गया है, चिन्ता से र्शन जड़ हो गए हैं। अपनी यह अवस्था देखकर कण्व कहते हैं कि जब वेदाभ्यास से जड़ अरण्य-निवासियों यह हाल है तो कन्या को भेजते समय गृहस्थियों के ख का क्या हाल होता होगा? सीता के प्रयाण-काल राजर्षि जनक का हाल सुनिए:—

सीय विलोकि धीरता भागी, रहे कहावत परम विरागी।
न्ह राय उर लाय जानकी, मिटी सकल मर्याद ज्ञान की।"

जनक ऐसे राजर्षियों का यह हाल है, कितनी शीघ्रता ाथ 'ज्ञान की मर्य्यादा' मिट जाती है। जो मर्य्यादा ेम के प्रस्रोत को रोके, उसका मिट ही जाना

अच्छा है। प्रेम का प्रभाव जब ऐसे महान व्यक्तियों पर इतना अधिक पड़ता है तो साधारण व्यक्तियों की कौन चलावे। उनकी कौन कहे जिनका प्रेम वात्सल्य प्रेम ही नहीं है। जो प्रियतम के मार्ग में नयन बिछाए हैं, और यही रटते हैं "तुम्हारे आने भर की देर, किया है हृदयासन तैय्यार"—उनका धर्म्म भी प्रेम ही है। ये भक्त लोग प्रेम ही के उपासक हैं।

'धर्म्म के भक्त न अर्थ के दास न मुक्ति के इच्छुक प्रेम के चेरे।'

'शंभुदयालु श्रीवास्तव'

यही बात है, तभी तो उनके प्रेम में शक्ति है और माँग में बल है। उनकी आह में विश्व कम्पन करने की क्षमता है। इसी लिए तो उन्हें प्रकृति के पात्र-कण सहानुभूति के अश्रुबिन्दु प्रतीत होते हैं। उन्हें अपने विरह का चिस्का लग जाता है। जुरअत साहब का कहना है:—

"छ्याती नहीं पलक से पलक, वस्ल में भी आह।
आँखों को पड़ गया है, मज़ा इन्तज़ार का।"

वियोग को ही ये बड़ा भारी तप समझते हैं। भक्त मवर मलिक मुहम्मद जायसी का कहना है:—

"यह यह जोगु वियोग को करना,
पिय जस राखै तस तस रहना।"

योग की कितनी सुन्दर परिभाषा है। यदि कृष्ण-योगिनी सखियों को यह मूल मंत्र ज्ञात होता तो वे काहे को रोया करतीं, ऊधो तो इसी मंत्र की दीक्षा देने आये थे, परन्तु वे तो अपने विरह वीचि में ऊधोको उसकी ज्ञान गाथा समेत बहाये दे रही हैं—

'मति अति आपकी अचल अचला सी लागै,
सागर सनेह कहो कैसे पार पावेगी।
खोलिए न जाइ अरु लीजिए न नाम इत,
बलदेव ब्रजराजजू की सुधि आवेगी।
सुनतहि प्रलय-पयोधि माँहि एक ऐसी,
कहर करनहारी लहर सिधावेगी।
राधे-रस-सलिल प्रवाह माँहि आजु ऊधो,
रावरे समेत ज्ञान गाथा बहि जावेगी।'
'बलदेव'

इसी श्रेणी के अन्य भक्तों के भी व्यंग देखिये। ये इसी मनोभाव के परिचायक हैं। उन्हें तो कुछ और अच्छा मालूम होता था। उनके मुखके मुंह रहने में दोष नहीं, वे तो फरियाद करने के आदी हैं। कभी वे

प्रियतम को मनाते हैं, कभी बिगड़ जाते हैं, कभी बड़ा गहरा व्यंग कर बैठते हैं। सौदा साहब कहते हैं:—

"मेरी आँखों में तू रहता है, मुझको क्यों रुलाता है ?
समझकर देख ले, अपना भी कोई घर डुबाता है ।

दूसरे सज्जन फ़रमाते हैं:—

"तुम बिन पती को करै, कृपा जु मेरे नाथ,
मोंहि अकेली जानि कै, दुख सास्यो है साथ ।"

एक दूसरे उर्दू के कवि की तानाज़नी सुनिएः—

"भेज देता है ख़याल अपना, एवज़ अपने मुदाम,
किस क़दर यार को ग़म है, मेरी तनहाई का ।"

यही नहीं लोग तो बड़ी ढिठाई से युद्ध करने तक को प्रस्तुत हो जाते हैं। सूरदास जी को देखिएः—

"आजु हौं एक-एक करि टरिहौं ।"
कै हम ही कै तुम ही माधौ अपुन भरोसे लरिहौं ।"

एक ओर तो कृष्ण-मूर्ति की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं और दूसरी ओर उन पर ऐसे बिगड़ जाते हैं कि उनके कारेपन पर अवाज़े-तवाज़े कसने लगते हैं:—

"ऊधौ कारे सबै बुरे,
कारे की परतीत न कीजै, विष के बुते सुरे ।"

परन्तु क्या यह कोरा व्यंग है ? यह तो प्रेम के उद्गार

का सम्बोधन है। हृदय में उमड़ते हुए प्रेम के समुद्र का एक उफान है। यदि एक स्थान पर वे विनोद में आकर ध्यान मग्न बैठते हैं तो चौबीसों घण्टे उनकी फुरकत में क्या जला नहीं करते। कबीर दास की दशा देखिए:—

"मांस गया पिंजर रहा, ताकन लागे काग,
साहब अजहुँ न आइयां, मंद हमारे भाग।"

परन्तु चाहे कोई अपने भाग्य को मन्द कहे चाहे करम ठोंके, वे तो खूब इन्तज़ार कराते हैं। विरह-घुन मांस को अवश्य ही धीरे-धीरे क्षय कर देगा। परन्तु शरीर का पात होना नहीं है। लौ यदि लगी है तो कोई चिन्ता न करनी चाहिए। कागों का ताकना व्यर्थ है। यदि शरीर का पात हो जायगा तो "पिया मिलन की आशा" कहाँ निवास करेगी। प्रेमी तो तभी नष्ट हो सकता है जब विरह छूट जाय, आशा नष्ट हो जाय। विरही की दशा एक प्रेमी इस प्रकार लिखते हैं:—

"विरहिन ओदी लाकड़ी, सपचै औ धुँधुआय,
छूट परे या विरह से, जो सगरा जरि जाय।"
'कबीर'

यह आश्चर्य की बात है कि विरह की चिनगी प्रेमी को तो भस्मीभूत नहीं करती परन्तुः—

"विरह जलन्ती मैं फिरौं, वह बिरहिन को दुक्ख,
छांह न बैठौं डरपती, मति जरि उट्ठै रुक्ख ।"

बात यह है कि वह अपने विरह की तीक्ष्णता इतनी अनुभव करती है कि उसे नाना प्रकार के भय उत्पन्न होते हैं। परन्तु प्रश्न यह है कि विरही इस विरहाग्नि में क्यों इतना चिपटता है ? इसमें उसे क्या मिलता है ? क्यों इस कष्ट को सुख पूर्वक अनुभव करता है ? कबीर दास जी ने इसे समझाने की चेष्टा की है। उनका कथन है:—

"लागी लगन छुटै नहीं, जीभ चोंच जरि जाय,
मीठो कहा अंगार में, जाहि चकोर चबाय ।"

जब चकोर की लगन की यह हालत है तो मानवीय लगन क्यों न इससे अधिक बलवती हो। फिर विरह तो प्रेमी के लिए एक संदेश रखता है। स्वयं कबीर दास जी बतलाते हैं कि वे विरह से क्यों चिपटे। उनका कहना है:—

"बिरहा मों से यों कहे, गाढ़ा पकड़ो मोहिं,
प्रेमी केरी गोद में, मैं पहुंचाऊं तोहिं ।"

यही रहस्य है। इसी से सन्त इस में चिपटे रहते हैं। वे तो वास्तव में 'सत्य सनेह' निबाहते हैं। फिर प्रियतम के मिलने में क्या सन्देह। उन्हें तो दर्द की दवा

की जुस्तजू है। उर्दू के कवि ग़ालिब का कहना है:-

"इश्क़ से तबीयत ने, ज़ीस्त का मज़ा पाया,
दर्द की दवा पायी, दर्द बेदवा पाया।"

परन्तु इश्क़ की इस ज़ीस्त को समझना सहल है। अनुरागी चित्त की यह गति बहुत ही कम म समझते हैं। यह तो वही समझता है जो दर्द रखता।

"वही समझेगा मेरे ज़ख़्में दिल को,
जिगर पे जिसके एक नासूर होगा।"

'नज़ीर'

वैद्य बुलाना व्यर्थ है। 'कलेजे की करक' यह समझेगा। यह क्या दर्द का इलाज करेगा। उसकी औषधि करने वाला कोई भिन्न ही व्यक्ति है और अपरिचित नहीं है। यह तो सब से अधिक परिचित यह है वही प्रियतम—

"मिल या वेदन निर्मयी भला करेगा सोय।"

'मीरा'

ग़ालिब भी ऐसी ही बात कहते हैं:—

"मुहब्बत में नहीं है फ़र्क़ जीने और मरने का,
उसी को देखकर जीते हैं जिस पर दम निकलता है।"

परन्तु कब तक वेदना जायगी, यह कौन जाने! कब

उस दर्द की दवा मिलेगी यह कौन जाने ? कब तक अखियाँ हरि दर्शन की प्यासी रहेंगी, यह कौन जाने ? कब तक प्रेमी-पागल की लोग हँसी उड़ावेंगे, यह कौन जाने ? सूरदास को देखिये, गद गद स्वर से अपनी व्याकुलता वर्णन करते हैं:--

"अखियां हरि दर्शन की प्यासी,
देख्यो चहत कमल नयनन को, निस दिन रहत उदासी।
काहू के मन की को जानत, लोगन के मन हाँसी।
सूरदास प्रभु तुम्हरे दरस बिन, लैहौं करवत कासी॥"

सूरदास जी के नेत्र तो हैं ही नहीं 'अखियां' कहां से आयीं। प्यासी रह कर क्या करेंगी यदि उन्हें दिखता ही नहीं ? परन्तु यह कौन कहे कि सूरदास जी सूर हैं। उनके नेत्र हम सब से तीव्र हैं। उनके दिव्य दृष्टि हैं। वे तो अपने प्रियतम के रूप को धारण किए हैं। बाहरी नेत्रों की उन्हें परवाह नहीं। यह शारीरिक दुर्बलताओं को अच्छी तरह समझते हैं। उनको अपनी आत्मिक दृढ़ता पर भरोसा है। तभी तो हठ से कह उठते हैं:—

"बांह छुड़ाये जात हौ, निबल जानि के मोहिं,
हिरदे से जब जाइहौ, सबल कहौंगा तोहिं॥"

वे तो अपने प्रियतम की बागडोर हमेशा अपने हाथ

में रखते हैं—

"कहा भयो जो बीछुरे, तो मन मो मन साथ।
उड़ी जाय कितहूं गुड़ी, तऊ उड़ायक हाथ॥"

'बिहारी'

उन्हें तो प्रियतम का सान्निध्य प्राप्त हो चुका है। परन्तु यह भाग्य सब के थोड़े ही हैं। बहुतों को तो व्यर्थ के सान्निध्य का विचार करके रोना अवशेष रहता है। आलम की निराशा देखिये—

"जा थल कीन्हें बिहार अनेकन,
ता थल कांकरी बैठि चुनो करैं।
नैनन में जो सदा रहते,
तिनकी अब कान कहानी सुनो करैं॥"

एक प्रेमिका ज्योतिषी को बुलाकर सन्देह से पूछती है:—

"मेरो मन मोहन में लागत है बार बार,
मोहन को मन मोमें लागि है बिचारी तो।

'रामसेवक'

बहुतेरे प्रेमी तो वियोग के भय से कांप जाते हैं। वे अपना शरीर विनाश करने तक को प्रस्तुत हो जाते हैं। वे कातरता से उस स्थान पर पहुँचना चाहते हैं, जहाँ

वियोग की कोई आशङ्का न हो प्रति-दिन ज्वाला की ताप वे सहन नहीं कर सकते।

> "साँझ भई दिन अथवा, चकई दीन्हीं रोय।
> चल चकवा वा देस को जहाँ रैन नहिं होय॥"
>
> 'जायसी'

उन्हें न हँसना आता है और न रोना—

> "हँसौ तो दुःख ना बीसरै, रोवहिं बल घटि जाय।
> मन ही माँहि बिसूरना, ज्यों घुन काठहिं खाय॥"
>
> 'कबीर'

बात यह है कि चाहे काशी में करवत लीजिए चाहे खाल खिचवा कर प्रियतम के लिए जूती बनवा रखिये, वह शीघ्रता से रीझता नहीं है। उसे मनमाने की आदत है। इसी से साधारण प्रेमी ऊब कर थक जाते हैं। परन्तु क्या सच्चे प्रेमी प्रियतम के इस अवगुण का ध्यान करते हैं? क्या उसकी यह बेवफाई उन्हें प्रेम-पथ से भ्रष्ट करती है? कदापि नहीं:—

> "मनि बिनु फनि जल-हीन मीन तनु त्यागहिं।
> सो कि दोष गुन गनहिं जो जेहि अनुरागहिं॥"
>
> 'तुलसी-पार्वती-मंगल'

प्रेमी तो प्रियतम की उपेक्षा की ओर ध्यान ही नहीं

देगा। वह तो दर्शनों के लिए रोया करेगा। उ
इसी में आनन्द है। यदि उसे रोना न आवे तो शाय
अपनी आँखें भी फोड़ ले। भारतेन्दु जी की विनय

"फूट जायँ वे आँखें,
जिनमें बँधा कृष्ण का तार न हो।"

और—

"जाती वे अखियाँ जरि जाहिं जो,
मोरे छाँड़ि निहारत औरहिं।"

जब प्रेमी अपने नेत्रों को ही बेवफाई के प
विनाश कराने को प्रस्तुत है, तो शेष ही क्या रहा।
के लिए नेत्र बहुत ही उपयोगी हैं। वह सारे शरीर
विनाश देख सकता है, परन्तु नेत्रों का नहीं। इसे उ
दर्शन होता है।

"बिरह कमण्डल कर लिए, बैरागी दो नैन।
मांगें दरस मधूकरी, छके रहैं दिन रैन॥"

'कबीर'

इसीलिए तो एक प्रेमिका काग से विनय करती है:-

"कागा नैन निकास दूँ, पिया पास लै जाय,
पहिले दरस दिखाय कै, पीछै लीजै खाय।"

दर्शन की लालसा ऐसी ही है। दर्शन न मिलने से शरीर का ह्रास अवश्य ही है। रामायण में तुलसी दास जी सीता के शरीर के सम्बन्ध में लिखते हैं कि उनकी 'कँगुरिया' की मुन्दरी 'कंकन' हो गयी है। यह क्यों न सीता जी के लिए तुलसीदास जी लिखें जब वह स्वयं रामचन्द्र जी को भी जङ्गल में धूप में चलते देखना पसन्द नहीं करते और मेघों को अपनी सहायता के लिए बुलाकर लिखते हैं:—

"जहँ जहँ राम लखन सिय जाहीं, करैं मेघ तह तहँ परछाँही।"

और रामचन्द्र जी का रूप देखने के लिये सीता को इतना विह्वल कर देते हैं कि:—

राम को रूप निहारत जानकी,
कंकन के नग की परछाहीं।
याते सबै सुधि भूलि गई,
कर टेकि रही पल टारति नाहीं।

जब जानकी निराश होकर विरह-सागर में डूबने लगीं उस समय का चित्र जानकी-मङ्गल में देखिये—

होति विरह-सर-मगन देखि रघुनाथहि;
फरकि-बाम-भुज नयन देहिं जनु हाथहिं।

'तुलसी'

यह याम नयन भुजा को फड़काने वाला कौन है? वही सच्चा प्रेम। प्रेम छिपाए छिप नहीं सकता—

प्रेम छिपाए ना छिपै, जा घट परघट होय;
जो पै मुख बोलै नहीं, तो नैन देत हैं रोय।
'कबीर'

प्रेम का बड़ा सुन्दर चित्र तुलसीदास जी ने राम-चरित मानस में सुतीक्ष्ण की भेंट के समय खींचा है। सुतीक्ष्ण अगस्त्य ऋषि का शिष्य है। उसे अपने प्रेम की परिपक्वता में सन्देह हो जाता है। रामचन्द्र जी उधर से निकल रहे हैं। उसे भय होता है कि सम्भवतः वे उसे दर्शन न दें। वह दौड़ कर उनसे मिलने के लिए आगे आता है। उसके पागलपने की हालत तुलसीदासजी बतलाते हैं—

दिसि अरु बिदिसि पंथ नहिं सूझा,
को मैं, चलेउँ कहाँ, नहिं बूझा।
कबहुँक फिरि पाछे पुनि जाई,
कबहुँक नृत्य करै गुन गाई।
मुनि मग माँहि अचल ह्वै बैसा,
पुलक सरीर पनस-फल जैसा।

इतने में श्रीरामचन्द्रजी वहाँ आ गये और उसे मार्ग में

पड़ा देख जगाने लगे। परन्तु—

मुनिहिं राम बहु भाँति जगावा,
जाग न ध्यान-जनित सुख पावा।

ध्यान-जनित रूप के दर्शन में वह मस्त हो गया। वह तो इस रूप के लिये 'नेह गेह सब तृण सम तोरे' था। शीघ्र ही उसके हृदय में चतुर्भुज-रूप के दर्शन श्रीरामचन्द्र जी ने कराये और वह विकल होकर उठ बैठा। उसे उस रूप का अभ्यास न था। सामने श्रीरामचन्द्र जी को देखकर चरणों पर गिर पड़ा।

वास्तविक लगन इसे कहते हैं। प्रेम यही है। प्रेम का दीवाना घायल की भाँति घूमता है। भक्त-प्रवरा मीरा बाई का हाल सुनिए:—

"खिन मन्दिर खिन आँगने रे, खिन-खिन ठाढ़ी होय,
घायल ज्यों घूमूं खड़ी, म्हारी बिथा न पूछे कोय।"

और अपनी 'विथा' दूर करने के लिए प्रियतम के पास कौवे से सन्देशा भेजती हैं:—

"काढ़ि करेजा मैं धरूँ रे, कौवा तू ले जाय,
जा देसाँ म्हारो पिव बसे, वे देखत तू खाय।"

ये वही मीरा बाई हैं जो अपने प्रेम की शिकायत करते हुए कहती हैं:—

कहत कथा अनेक ऊधो, लोक-लाज दिखात,
कहा करौं तन प्रेम पूरन, घन न सिंधु समात।

इसीलिये तो उन्हें विश्वास है कि घूँघट के पट खोलने से राम अवश्य मिल जायँगे। यह प्रेम देवी है। यह प्रेम गुरु है। यही प्रेम ईश्वर है।

"God is love and love is God."

भक्त प्रवर दादू दयाल जी कहते हैं:—

"इसक अलह की जाति है, इसक अलह का अंग,
इसक अलह औजूद है, इसक अलह का रंग।"

जहाँ किसी ने इस प्रेम-प्याले का पान किया कि वह जीवन्मुक्त हो गया। प्याले पर प्याला पीजिये, परन्तु प्यास नहीं जाती। धरनी दास जी का कथन है:—

"धरनी पलक परै नहीं, पिय की झलक सोहाय,
पुनि पुनि पीवत परम रस, तबहूँ प्यास न जाय।"

"आव बगूला प्रेमका तिनका उड़ा अकास,
तिनका तिनका सो मिला, तिनका तिनके पास।"

'कबीर'

परन्तु इस प्रेम के नदो का प्रभाव ही कुछ और है। यह देवी है और सांसरिक वासनाओं को दूर करने वाला है।

"मन पँछी तब लग उड़ै, विषय-वासना माँहि,
प्रेम बाज की झपट में, जब लगि आयौं नाहिं।"

'कबीर'

मलिक मुहम्मद जायसी का कहना है:—

"प्रीति अकेलि वेलि चढ़ि छावा,
दूसर वेलि न संचरै पावा।"

यही कारण है कि सन्त लोग प्रेम करते हैं। विषयों से बचने का यह सबसे बड़ा साधन है। एक बार आप प्रेमाक्रान्त हुए बस आप को सांसारिक वासनाओं के सोचने का अवकाश कहाँ? दुनिया के झंझटों में पड़ने को आपके पास समय कहाँ? प्रेम की प्रचण्ड वायु में वासना के बुदबुदे कहाँ ठहर सकते हैं! प्रेमी के जीव तक को शरीर में रहने की फुरसत नहीं, फिर वासनाएँ उसका क्या बिगाड़ सकती हैं। कबीर दास जी का कथन है:—

"बिरह तेज मन में तपै, अंग सबै अकुलाय।
घर सूना जिव पीव में, मौत ढूँढ़ि फिरि जाय।"

जब मौत तक को पता नहीं, तो वासनाएँ बिचारी का क्या बिगाड़ सकती हैं? हां, जो व्यक्ति एक समय नै को प्रेम परिप्लावित प्रदर्शित करता है और दूसरे

समय उसमें छोह का छींटा भी नहीं दिखायी देता उसकी गणना इन सच्चे प्रेमिकों में नहीं है। यह व्यक्ति गिरगिटान के तुल्य है। उसकी बहिराकृति से धोखा न खाना चाहिए। दरिया साहब उसकी परख बतलाते हैं:—

"दरिया बगुला ऊजला, उज्जल ही है हंस,
ये हरवर मोती चुगैं, वाके मुख में मंस।"

'मुख में मंस' कैसी सुन्दर व्याख्या है। संसार के कामियों को इस सम्बोधन से लज्जित होना चाहिए और सच्चे प्रेम का सबक़ सीखना चाहिए। परन्तु इन दुष्टों के हृदय में प्रेमसञ्चार नहीं हो सकता। ये तो वासना की नासिका लिये हुए श्वान की भाँति मृद्भाण्ड में जूठा चुराने के लिए इधर-उधर भ्रमण करते हैं। आज उन्होंने एक स्थान का भोजन स्वाद युक्त समझ कर ग्रहण किया। कल उसे छोड़ दिया और दूसरे बर्तन में मुंह डाला। ये व्यक्ति जीते हुए भी सद्विचारों के लिए हृदय हीन हैं। इनका उद्धार कठिन है—

"सिंह साधु का एक मत, जीवत ही को खाय;
भाव हीन मिरतक दसा, ताके निकट न जाय।"
'कबीर'

प्रेमी का अर्थ ऐसे जीवित श्मशानों से हमारा अभि-

प्राय नहीं। हमें तो प्रेम करने और निवाहने वाले अभिप्राय है। यह बड़ा कठिन है।

> "अगिनि मांच महना सुगम, सुगम खड्ग की धार,
> नेह निबाहन एक रस, महा कठिन ब्योपार।"
>
> 'दूलनदास'

परन्तु आवश्यकता है, एक बार प्रेम की चिनगी सुलगाने की, हृदय में उसे प्रज्वलित करने की और उसके लिए पवित्रता की वेदी बनाने की। उसे जीवित रखने के लिए एकाग्रता का योग करना पड़ता है। उसमें आत्मीयता की आहुति देनी पड़ती है। प्रियतम के निवास के लिए स्थान परिष्कृत करना पड़ता है। कपाट खोलने पड़ते हैं। तभी प्रिय मन-सदन में आ सकता है। फिर जहाँ एक बार आ गया, सो आ गया। फिर क्या है—

> "नैनों की करि कोठरी, पुतली पलँग बिछाय,
> पलकों की चिक डारिकै, पिय को लिया रिझाय।"
>
> 'कबीर'

इसी लिए तो मसखरे भक्त नागरीदास कह डालते हैं—

> "कजरारी अखियान में बसो रहै दिन रात,
> प्रीतम प्यारो है सखी, ताते सांवरु गात।"

कुछ भी हो प्रियतम के बसने के कारण नेत्रों में काजल और नींद नहीं प्रवेश कर सकते हैं। और वास्तव में काजल और नींद कहां बसे।

नैना मांही तू बसै, नींद को ठौर न होय।।

'सहजोबाई'

कबीर रेख सिन्दूर अरु, काजर दिया न जाय;
नैनन प्रीतम बसि रहों, दूजो कहां समाय।

प्रियतम को ऐसी दृढ़ता से बिठाया है कि वह टस से मस नहीं हो सकता। उसको प्रेमी क़ैद में रखना चाहता है और यही कहता भी है--

नैनो अंतर आव तू, नैन झांपि तोहि लेउं;
ना मैं देखौं और को, ना तोहिं देखन देउं।

'कबीर'

परन्तु इस बन्धन में पड़ने का उन्हें भी शौक़ है। इसीलिये वे इस बन्धन को स्वीकार करते हैं। वे स्वयं कहते हैं--

नाहं वसामि वैकुण्ठे, योगिनां हृदये न च;
यत्र गायन्ति मद्भक्तास्तत्र तिष्ठामि नारद।

अतएव एक बार मिल भर जायँ, फिर प्रतापनारायण-जी के अनुसार--

किसी की पर्वा नहीं रही, सबसे टूटा नाता।

फिर किसकी परवाह रहे। फिर किसके नाते की वश्यकता है। जब यह नाता स्थापित हो गया, किस नाते की आवश्यकता रही यहां तक कि यतम को भी पत्र लिखने की आवश्यकता नहीं । चारों ओर प्रियतम-ही-प्रियतम दिखलाई पड़ है।

प्रियतम को पतियाँ लिखूं, जो कहुँ होय विदेस;
तन में मन में नैन में, ताको कहा संदेस।

'दरिया साहब'

यहाँ तो 'देखत तुमहिं तुमहिं होइ जाई' की बात है। रदासजी का कहना है–

'तू तू करता तू भया, तुम में रहा समाय;
तुम माही मन मिल गया, अब कहुँ अनत न जाय।

इस अनवरत रटन से क्यों न एकीकरण हो, एक रण कीट को निष्प्राण कर के प्रतिदिन रटन याँध- भृंग उसे सजातीय कर लेता है। इसीलिये तो यह वर्य है—

बुंद समुद्र समान, यह अचरज कासों कहों?
हेरनहार हेरान, अहमद आपुहि आपु में।

हेरत हेरत हे सखी, रहा कबीर हेराय ;
समुद समाना बुंद में, सो कत हेरा जाय।
बुंद समानों समुद में, यह जानें सब कोय ;
समुद समानों बुंद में, बूझे बिरला कोय।

क्योंकि—

अंक भरी भर भेटिये, मन नहिं बांधे धीर।
कह कबीर ते क्या मिले, जब लग दोय शरीर।

इस शरीर के द्वितीयत्व के विनाश के लिये हेरनहार को हेराना पड़ता है। प्रत्यक्ष में यह आश्चर्य की बात अवश्य है कि इस छोटे से 'बुन्द' में समुद्र विलीन हो गया। परन्तु प्रेम-तत्व के पण्डितों के सामने कोई आश्चर्य की बात नहीं। 'बुन्द' ने तो प्रेम ही की बदौलत अपना इतना बृहद् विकाश कर लिया था कि समुद्र में और उसमें कोई अन्तर ही न रहता था। फिर आश्चर्य की क्या बात? प्रेम भी एक बड़ा भारी योग है। तभी यह दशा प्राप्त हो सकती है। इसीलिये एक सन्त ने कहा है—

प्रेम बराबर जोग नहिं, प्रेम बराबर ज्ञान।

'चरनदास'

जिस प्रेम से अभीष्ट का साक्षात् हो, उसके सदृ

और कौन वस्तु हो सकती है। ज्ञान उसकी तुल
कैसे कर सकता है। प्रेमी के लिये नेम कैसे लागू
सकता है।

प्रेमी से नेमी कहँ, नहिं साधे नेम ;
शंभु सो नेमा नहीं, जाके नेम न प्रेम।

क्योंकि—

प्रेम-दिवाने जो भये, जाति बरन गइ छूट ;
सहजो जग बौरा कहे, लोग गए सब फूट।
प्रेम-दिवाने जो भये, नेम-धरम गए खोय ;
सहजो नर नारी कहैं, वा मन आनँद होय।

'सहजो बाई'

एक दूसरे संत भी इसी प्रकार की भाव-मन्दाकिनी में
विहार करते हैं—

जहाँ प्रेम तहँ नेम नहिं, तहाँ न जग-व्यवहार ;
प्रेम-मगन सब जग भया, कौन गने तिथि वार।

'कबीर'

वास्तव में प्रेम करने के लिए सात्त विचारने की
आवश्यकता नहीं है। प्रेम किन्हीं बाह्यभौतिक आश्रयों
पर आश्रित नहीं है। इच्छा की पूर्ति के साथ उसका
अन्त नहीं होता।

With dead desire it does not die.

'Scott'.

जो प्रेमी रूप में मग्न है, उसे नेम जानने की फ़ुर्सत कहाँ ? जो प्रेम के नशे में चूर है, उसे बाहर आँख खोल कर देखने की सावधानी कहाँ ?

मन मस्त हुआ तो क्यों बोले ;
घट में ही दिलदार मिला, तो बाहर अँखियाँ क्यों खोले ।

'शंभु'

कहुँ परत पग परत कहुँ डगमगात सब देह ;
भए मगन हरि रूप में, दिन-दिन अधिक सनेह ।

'पलटूदास'

विलक्षण दशा है   आनन्द-ही-आनन्द है, परन्तु किसको यह विचारणीय है । कबीरदासजी कहते हैं—

जब मैं था तब गुरु नहीं, अब गुरु हैं हम नाहिं ;
प्रेम-गली अति साँकरी, तामें दुइ न समाहिं ।

वास्तव में जब तक अहम्मन्य अथवा अहं-भाव रहता है तब तक दूसरे की गुज़र नहीं । अपना विनाश करने पर ही गुरु के दर्शन होते हैं । स्वामी रामतीर्थ जी कहते हैं—

वे अपनी हस्ती
सुन

यह भी इसी भाव का परिचायक है। इसीलिये उन्हें परियों और हूरों या काबे और मन्दिर से कोई प्रयोजन नहीं, वे तो प्रेम-पथ के सच्चे पथिक हैं। वे उन व्यक्तियों की भाँति नहीं हैं, जिनके प्रेम से भरे हुए करुण-आलाप का प्रियतम पर कोई प्रभाव नहीं होता। अतएव, उनका प्रतिघात प्रेमी के हृदय पर वज्राघात होता है। उन्नति रुक जाती है। उसकी बढ़ी हुई आत्मा जो आह्लाद के उभार से बढ़कर विश्व को व्याप्त कर लेना चाहती थी, निराशा के प्रतिघात से पङ्गु हो जाती है। कुछ ऐसे भी अर्ध-भाग्यशाली व्यक्ति हैं, जिनके प्रियतम वक्षःस्थल में या पीठ पर प्रेम-शर अवश्य स्वीकार करते हैं। परन्तु यदि प्रेम में बल है, तो कभी-न-कभी उसे अपना वक्षःस्थल समर्पण करना ही पड़ेगा। यदि वह आत्म-विनाश करने का वास्तविक रहस्य समझता है, तो उसका कार्य अवश्य पूर्ण होगा। आत्म-विनाशी प्रेमी के इश्क में इतना बल होता है कि वह माशूक को भी आशिक़ बना लेता है। दादूजी की वाणी इस सम्बन्ध में कितनी सुन्दर है—

आशिक माशुक है गया,
इश्क कहावै सोय।

वास्तव में इश्क यही है और सब ढोंग है। यह इश्क

इश्क़ ही नहीं, जो माशूक़ के हृदय में इश्क़ पैदा न कर दे। यही कारण है कि प्रत्येक साहित्य में जितनी सुन्दर कथाएँ हैं, उनमें दोनों ओर के प्रेम का सादृश्य है।

इसके पश्चात् वक्ता महोदय बैठ गये। इस व्याख्यान को लगभग एक घण्टा लगा। बीच में कई बार कर-तल ध्वनि हुई। व्याख्यानदाता अधिकतर मेरी ही ओर देख कर सम्भाषण करते थे। ऐसा मालूम होता था कि सारा व्याख्यान मेरे ही लिए दिया जा रहा है। व्याख्यान समाप्त होने पर सभापति ने यह सूचना दी कि जो सज्जन चाहें, इस भाषण के सम्बन्ध में वक्ता महोदय से प्रश्न कर सकते हैं। झट खड़े होकर मैंने पूछना प्रारम्भ किया।—

प्रश्न—*क्या मुझे वक्ता महोदय यह बतलाने की कृपा करेंगे कि प्रलय और विकास, प्रेम में, दोनों एक साथ कैसे सम्भव हैं?*

उत्तर—इसका उत्तर तो अधिक कठिन नहीं है। प्रेमी सर्वत्र अपने प्रियतम को ही देखता है। उसे और कुछ नहीं दीखता। सारा संसार प्रेमी के लिए प्रलय-प्राप्त है। उसके स्थान पर विश्व-व्यापी प्रियतम की आकृति को ही वह देखता है। वह अपने को भी उसी में *लय*

पाता है। ज्यों ज्यों संसार का ह्रास होता जाता है त्यों त्यों प्रियतम का विकास बढ़ता जाता है। बस, यही ह्रास और विकास का रहस्य है।

प्रश्न—क्या आप यह बतलाने की कृपा करेंगे कि पार्थिव शरीर किस प्रकार प्रेम से सूक्ष्म हो सकता है?

उत्तर—मेरे निकट प्रकृति और ब्रह्म में कोई भेद नहीं मेरी यह धारणा है कि जड़ प्रकृति के प्रत्येक परिमाणु में ब्रह्म का अंश निहित है। प्रेम के अतिरेक में ओत प्रोत करने वाली कल्लोलकारिणी प्रियतम और प्रेमी की आत्माएँ प्रकृति के जड़त्व का प्रतिरोध अनुभव करके उसे नष्ट करने का प्रयत्न करती हैं, और यह निरन्तर चेष्टा जड़त्व को सूक्ष्मता की ओर अग्रसर करती है; अर्थात् निहित ब्रह्म अपने को अधिक-अधिक अनुभव करने लगता है। वर्तमान युग में विज्ञान यह कहता है कि यह जगत् केवल कम्पन मात्र है। जगत् का प्रत्येक अणु बड़े वेग से कम्पायमान हो रहा है। हमारे ऋषि मुनियों का भी यही कहना है। जगत् शब्द ही स्फुरण, स्पन्दन और कम्पन का द्योतक है। जब हम अपनी ज्ञानेन्द्रियों की शक्ति को तीव्र कर सकेंगे तब इन सूक्ष्म कम्पनों का भी प्रत्युत्तर दे सकेंगे।

प्रश्न—भक्ति और प्रेम में क्या अन्तर है ?

उत्तर—आप का प्रश्न कुछ अस्पष्ट सा है। सम्भवतः आप यह जानना चाहते हैं कि किसी के मानसिक अथवा हार्दिक गुणों के बाहुल्य से जो श्रद्धा-जनित-प्रेम उत्पन्न होता है उसमें और केवल शारीरिक सौंदर्य-जनित प्रेम में क्या अन्तर होता है।

प्रश्नकर्ता—जी हाँ। और क्या दोनों मार्गों से मुक्ति उपलब्ध होती है ? और क्या दोनों प्रेमों में अतिरेक की दशा में कोई अन्तर नहीं ?

उत्तर—मेरी यह धारणा है कि यदि सौंदर्य-प्रेम की आधार शिला केवल वासना-तृप्ति ही न रह जाय तो वह भी बड़े उच्च कोटि के प्रेम में परिणत हो सकता है। परन्तु बड़ी जागरुकता की आवश्यकता है।

प्रश्न—प्रेम लिङ्ग-भेद तथा आयु की अपेक्षा नहीं करता, इससे आपका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—मेरा केवल यह अभिप्राय है कि प्रेम वाह्य परिस्थितियों पर अधिक अवलम्बित नहीं; और न वे सच्चे प्रेम-प्रस्रोत का मार्ग ही अवरुद्ध कर सकती हैं।

प्रश्न—आपने अपने भाषण में यह कहा था कि प्रेम नेम और जग-व्यवहार की उपस्थिति स्वीकार नहीं

करता क्या आपकी यह धारणा है कि प्रेम ज्ञान के प्रतिकूल है ?

उत्तर—सम्भवतः आप मेरे अभिप्राय को पूर्ण रूपेण अवगत नहीं कर सके। मेरा अभिप्राय केवल सामाजिक बन्धनों और व्यावहारिक शृङ्खलाओं से था। प्रेम के विकास में यदि उपर्युक्त प्रतिबन्ध उपस्थित हों तो उन्हें गौण व्यावहारिक उपकरण समझकर उनकी परवाह न करनी चाहिए। जिस प्रकार के ज्ञान से आपका अभिप्राय है उसकी उपेक्षा तो सन्तों ने भी नहीं की है। अन्यथा प्रेम के दुरुपयोग से अपनी इन्द्रियों को अधोमुखी करके सच्चे मुक्ति के मार्ग से और भी दूर हो जाते। कबीर दास की उक्ति इस स्थान पर विचारणीय है। उन्होंने ज्ञान के सम्बन्ध में कहा है:—

"कबिरा घोड़ा प्रेम का, चेतन चढ़ि असवार।
ज्ञान खड्ग लै काल सिर, भली मचाई रार॥"

प्रश्न—आपके भाषण से यह ध्वनि निकलती थी कि जो व्यक्ति संसार में नित्य नये प्रियतम का अन्वेषण कर प्रेम करता है उसका प्रेम आदर्श प्रेम नहीं कहा जा सकता; वरन् यह वासना-जनित-प्रेम है। इसके सम्बन्ध में आपके पास कौन से प्रमाण हैं ? जब एक प्रियतम से

मुक्ति मिल सकती है तो अनेक से भी मिल सकती है।

उत्तर—इस प्रकार प्रेम करना प्रेम के मूल तत्व के प्रति अनभिज्ञता प्रकट करता है। यही लोग यत्र-तत्र प्रियतम ढूंढते हैं, जिन्हें एक प्रियतम से सन्तोष नहीं होता। उनका सन्तोष बाह्य सौन्दर्य अथवा उपयोगिता पर स्थित रहता है। अतएव, उसी के अनुसार वे अधिक उपयोगी प्रियतम की खोज में नित्य एक परिवर्तन किया करते हैं। इन्द्रिय-सुख ही इसका मूल कारण है। उनकी वृत्तियां बहिर्मुख रहती हैं। अतएव वास्तविक मुक्ति का आनन्द इन्हें उपलब्ध नहीं हो सकता।

प्रश्न—जब दो आत्माएं प्रेम-पाश द्वारा एक दूसरे से सम्बन्धित होती हैं, तो दोनों की उन्नति होती है; यह बात मेरी समझ में नहीं आती, कृपया समझा कर कहिए।

उत्तर—यह बात तो वास्तव में अनुभव करने की है। भौतिक पदार्थों की तुलना ठीक-ठीक अर्थ स्पष्ट न कर सकेगी। परन्तु थोड़ा बहुत समझ में अवश्य आ जायगा। आप साधारण प्रकार से देखते हैं कि दो पृथक्-पृथक् जलती हुई बत्तियां उतना अधिक प्रकाश नहीं कर सकतीं जितना वे एक साथ मिलकर जलाने पर कर सकतीं

हैं। एक लैम्प को जलाकर जब आप शीशे के समक्ष रखते हैं तो लैम्प का प्रकाश दूना हो जाता है और दर्पण भी दुगुने प्रकाश से चमकने लगता है।

प्रश्न—पाप की क्या परिभाषा है ?

उत्तर—मेरे निकट पाप वह है जिससे मेरी आत्मा की उन्नति तथा उसके विकास में रुकावट पड़े। और पुण्य-कर्म वे हैं जो उसकी उन्नति में सहायक हों। समय-परम्परा, वंश-परम्परा और समाज-परम्परा ने बहुत से ऐसे कर्मों को भी पाप समझ रखा है जो केवल समाज को ठीक रूप से नियन्त्रित रखने वाले नियमों के प्रतिकूल हैं। बहुत बार ऐसी स्थिति आ जाती है जब इनकी रक्षा में पाप और उन्हें तोड़ने में पुण्य होता है।

प्रश्न—मुक्ति से आप का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—आत्म-ज्ञान को ही मैं मुक्ति समझता हूं और ... द्वारा ही अधिक सुगमता के साथ सम्भव है।

...—अब मुझे कुछ और बातें पूछनी हैं। क्या किसी ...का वासना-जनित प्रेम सच्चे प्रेम में परिवर्तित ...ा है ? और उसे सच्चे प्रेम का स्वाद मिल ... ?

...—अवश्य। केवल एक बार प्रेम सम्बन्धी

वास्तविक ज्ञान के उत्पन्न हो जाने की आवश्यकता है। वासना-जनित प्रेम से सच्चा प्रेम हो जाना सम्भव और प्राकृतिक भी है। परन्तु ज्ञान-तन्तुओं के विकसित होने की आवश्यकता है। संसार में बहुत ऐसे व्यक्तियों के उदाहरण मिलते हैं जिनके नेत्र सांसारिक प्रेम ही द्वारा अन्त में खुले हैं और उन्हें मुक्ति मिली है।

प्रश्न—परन्तु एक ज्ञानी भी पाप-कर्म कर सकता है।

उत्तर—कभी नहीं। सम्भवतः ज्ञानी की परिभाषा आपको भ्रम है। ज्ञानी की परिभाषा यूनानी दार्शनिक सुकरात ने अत्यन्त स्पष्ट की है। यह नहीं है कि उसे केवल पाप-पुण्य अच्छे-बुरे की जानकारी हो, प्रत्युत जानकारी के साथ साथ पुण्य की सद्भावना से अच्छे अच्छे कार्य करे और बुरे कर्मों का परित्याग करे। Knowledge is virtue का यही अभिप्राय है।

इस प्रश्न के करने के बाद ही सभापति ने आदेश दिया कि अब अधिक प्रश्न नहीं किये जा सकते। मैं शान्त होकर अपने स्थान पर बैठ गया। वक्ता महोदय मेरा परिचय प्राप्त करने लगे। सभा विसर्जित होने पर वे मञ्च से उतर कर मेरे निकट आये। उन्होंने मेरा हाथ पकड़ कर मेरे कन्धे पर अपना दूसरा हाथ रखकर बड़े

प्रेम से मेरी सुन्दरी का परिचय चाहा। मेरी सुन्दरी, जो मेरे साथ थी, उनके सामने बड़ी व्याकुल सी प्रतीत होने लगी और तुरन्त ही बहाना करके वहाँ से चली गयी। मैं इस विद्वान् से बातें करता करता एक वृक्ष के निकट आया। हम दोनों बैठ गये। मुझे व्याख्यान का प्रमाद इतना अधिक चढ़ गया था कि अपने को एक दूसरे लोक में अनुभव करने लगा। नेत्रों के समक्ष का दृश्य स्वप्न सा दीखने लगा। मुझे उँघ सी आने लगी। इस थोड़े से समय में ही मैं वक्ता ।मदोदय से इतना परिचित ना हो गया कि मानो ये मेरे सदा के मित्र हैं। बड़े भाई से ी अधिक मुझे इनके प्रति श्रद्धा और भक्ति उत्पन्न हो ायी। मैं इनके अङ्क पर सिर रखकर ऊँघ गया। सावधान ोकर मैंने देखा कि उस वक्ता के स्थान पर वही मेरा राना अवधूत शिष्य है। मैंने झट उठकर उससे पूछा : इतने दिनों तक तुम कहाँ रहे। वह कुछ न बोला। र मैंने पूछा कि क्या अभी तुम्हीं ने व्याख्यान दिया था। ाने कहा, आप क्या समझते हैं? मैंने पूछा तुझे इतना । कहाँ से आ गया? इतना कहकर मैंने उसके पैर ड़ने चाहे किन्तु उसने मेरे हाथ पकड़ लिये।

मेरे नेत्रों में आँसू बहने लगे। मेरा गला रूँध आया।

मैंने कहा मुझे इस महान आपत्ति से बचाइए। मैं बहुत दिनों से वाटिका में हूं मुझे इधर उधर घूमते-घूमते बहुत कष्ट अनुभव हुआ है। मुझे कोई भी विश्वासी साथी नहीं मिला। संसार अविश्वासियों का स्थान है। यहां कोई सच्चा व्यक्ति नहीं। मेरा अपमान हुआ है। मेरे प्रेम का किसी ने प्रत्युत्तर नहीं दिया। वह ठुकराया गया है। मुझे कब मालूम था कि जिनके लिए मैं आंखें बिछाये प्रतीक्षा करता रहता था वे मेरी हँसी उड़ायेंगे। मुझे नहीं मालूम था कि जिनकी श्वास-समीर मुझे प्राण देने वाली थी वे अपना हृदय इतना निष्ठुर कर लेंगे कि मेरे निकट बैठने में, मेरी ओर देखने में, अपना अपमान समझेंगे। मुझे यह भी नहीं पता था कि जिन्होंने अपना प्रेम दिखाकर पहले मुझे आकृष्ट किया है वही फिर मेरे प्रेम को ठोकर मारेंगे। जिन्होंने सैकड़ों बार मेरे विश्वास भाव को देख लिया है. जिनके प्रति मैंने उपकार करने में कुछ भी उठा नहीं रखा, वे मेरे उपकार का कुछ भी मान नहीं करते। जिनको सैकड़ों बार इस बात का परिचय प्राप्त हो चुका है कि मैं अपना सर्वस्व उनके चरणों में अर्पण कर उन्हें सुख देना चाहता हूं वे भी उपेक्षा करें तो फिर संसार में है ही कौन? क्यों न आत्म-

विनाश करके उनसे मुँह छिपा लिया जाय। बार-बार अपमानित होकर भी मुझे उनकी सद्भावना पर विश्वास है। परन्तु उपेक्षा मर्मच्छेदी है। अतएव, इस समय तो शरीर त्याग देना ही रुचिकर मालूम होता है। इतना कहते कहते मेरा गला अवरुद्ध हो गया। अश्रुधारा बह उठी। मैं संज्ञा-हीन हो गया। संज्ञा प्राप्त करने पर फिर शिष्य को निकट उपस्थित देखकर लज्जा सी आयी और यह ज्ञात हुआ कि संसार सर्वथा निर्दयी व्यक्तियों का निवास स्थान है।

हम दोनों इतने में उठकर चले। आगे वही पुराना पँचराहा मिला। यहाँ फिर प्राचीन भावनाएँ जागृत हो उठीं। प्रतीत होने लगा कि मैं बड़ी भूल में पड़ गया था। अपना धर्म भूल गया था। न मालूम किस मार्ग की ओर चल दिया था। मैंने अवधूत शिष्य से प्रश्न किया कि भला मेरा कल्याण कैसे होगा। मैं तो बड़े अन्धकार [में] पड़ गया था। उसने नम्र स्वर से उत्तर दिया। 'गुरु [ज]ी, कहना तो आपका नितान्त सत्य है। यह पाप तो [प्राय]श्चित से ही दूर हो सकता है। शुद्ध हृदय से आप [अप]ने किये का पश्चाताप कीजिए'। मुझे बड़ी ग्लानि [हुई]। मन में सोचने लगा कि शुद्ध हृदय तो है ही नहीं,

पश्चाताप कैसे किया जाय। चित्त घबड़ाने लगा। ऐसा प्रतीत होने लगा कि जितनी सुन्दरियों ने मुझे छला है, वे सब डाकिनी थीं। इसका पूर्ण प्रायश्चित तो शरीर विनाश से हो सकता है। इस धारणा से मैंने अपने जेब से झट एक चाकू निकाला और उसका उपयोग अपनी ग्रीवा पर करने ही वाला था कि अवधूत ने मेरा शस्त्र पकड़ लिया। इस लप्पा-झप्पी में मेरी एक उँगली कट गयी। इसी की पास वाली एक उँगली पूर्व ही कट चुकी थी। अवधूत झट बोल उठा, 'बस प्रायश्चित हो गया'। मैं शोकाक्रान्त होकर भूतल पर गिर पड़ा।

मेरी अचेत अवस्था में ही मेरे शिष्य ने उँगली की मरहम पट्टी कर रखी थी। ससंज्ञ होकर मैं फिर रोने लगा। उसने मुझे बहुत धैर्य दिया। मुझसे यह भी कहा कि आपने पर्य्याप्त प्रायश्चित कर लिया है। अपने आदर्श का स्मरण रखिए। वही आपकी रक्षा करेगा। आप यदि इस फेर में रहेंगे कि आपके आदर्श में आपको सब गुण ही गुण देख पड़ें तो आप किसी को अपना आदर्श अथवा गुरु न बना सकेंगे। इसके दो कारण हैं। प्रथम तो यह कि ... के परखने की योग्यता ... की माप

परम्परागत और प्रामाणिक है। उसमें ध्रुव सत्य की
... सोचना भ्रम है। फिर मानव देहधारी आदर्श मानव
कमज़ोरियों से सर्वथा छूट नहीं सकते—

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः।

अतएव, उन कमज़ोरियों को देख कर आदर्श का
पुनः पुनः परित्याग करने के लिए लोग विवश होते हैं।
अपने को तो दोष-गुण जानने की चिन्ता ही नहीं करना
चाहिए। यदि आप एक आदर्श रखें जिससे आप सबसे
अधिक प्रेम करें तो आप पतन से बचेंगे। पतन के
समय आपके आदर्श की स्मृति घसीट कर ऊपर की
ओर आपको आकृष्ट कर लेगी। आप वासना के फन्दे
से बच जायेंगे।

मैंने इन बातों को सुनकर कहा, "ऐसा ही करूंगा।
आपसे अच्छा कौन आदर्श मिलेगा।" शिष्य झट बढ़
उठा, "नहीं मैं तो आपका शिष्य हूँ मुझे तो आपसे
सीखना है।"

अब कुछ क्षुधा मालूम होने लगी थी। हम दोनों एक
सुन्दर झरने के निकट गये। अवधूत ने अपने पिटारे से
दिव्य भोजन निकाल कर दिये। हम दोनों ने ख़ूब

खाया। अवधूत ने मुझे स्मरण दिलाया कि जब आप फिर कुमार्ग-गामी होंगे तब आपकी कटी हुई उँगली आपको आपका मार्ग बतला देगी। हम लोग एक वृक्ष की छाया में बैठ गये। शीतल वायु ने मुझे निद्रित कर दिया। जागकर मैंने देखा कि अवधूत कहीं न था। मैंने पुकारा भी परन्तु कहीं कोई दिखाई न पड़ा।

मैंने फिर प्रयाण करने का प्रयत्न किया। बहुत देर तक कोई मार्ग निश्चिय न कर सका। हृदय में मानव समाज के प्रति क्रोध अङ्कुरित हो चुका था। यह विचार बँध गया कि मानव समाज किसी भी सहानुभूति का पात्र नहीं। उसने मुझे बहुत छला है। उसने मुझे विफल किया है। मैं उससे कभी हिल मिल कर नहीं रह सकता। यही सोचता हुआ मैंने उस मार्ग से जाना निश्चय किया जो नितान्त निर्जन हो। यह विचार कर बाईं ओर का एक मार्ग ग्रहण किया।

थोड़ी दूर चलकर मुझे एक मनुष्य आता दीख पड़ा। मैंने एक ओर हट कर निकल जाना चाहा। परन्तु इसने बलपूर्वक मेरा मार्ग घेर लिया। मैंने डाँट कर इससे मार्ग परित्याग करने का आदेश दिया। यह हँसकर बोला "क्या आपने सारे मार्ग का पट्टा लिखा लिया है। मुझे

एक मित्र का धोखा हो गया था, इस लिये मैं इस प्रकार मार्ग में खड़ा हो गया।" उसके वाक्य का पूर्व भाग सुन कर मैं इतना क्रोधित हो गया कि अंतिम वाक्य सुने बिना ही मैंने उसके मुँह पर एक थप्पड़ रख दिया। वह लड़खड़ा कर पृथ्वी को चूमने लगा। मैंने इतने में एक और ठोकर जमायी। उस बिचारे के मुँह से रक्तपात होने लगा। मुझे तनिक भी शोक न हुआ। उसके उठने की प्रतीक्षा न करके मैं वहां से आगे बढ़ा।

एक क्षण के लिये भी यह परिताप न हुआ कि मैंने अच्छा नहीं किया। निरन्तर यही विचार पुष्ट होने लगा कि संसार में शक्ति ही सब कुछ है। वही व्यक्ति संसार में रह सकता है जो दूसरे को अपनी कोहनियों के धक्के से पीछे हटाने की क्षमता रखता है। वही व्यक्ति अपने अस्तित्व को रक्षा कर सकता है जो जीवन-संग्राम के वातावरण पर विजय पा सके। उसी का सब भय मानते हैं और उसी का आदर करते हैं जिसके बाहु-बल का आतङ्क लोगों पर जमा है। विज्ञान का भी यही गूढ़ सिद्धान्त है। प्राणि-शास्त्र की प्रवेशिका में भी यही सिद्धान्त प्रतिपादित है। हमारे धर्म-शास्त्रों में भी इसी की घ[illegible] है। बल के बिना शरीर में तेज नहीं उत्पन्न होता।

का उपार्जन करना एक प्रकार का योग है जिसकी हम सब को आवश्यकता है। बल तभी उत्पन्न हो सकता है जब प्रतिकूल वायु-मण्डल को विजित किया जाय। रात दिन के सङ्घर्षण में उसे परास्त किया जाय। इसी बलोपार्जित योग की प्रशंसा महाभारत के शान्ति पर्व में की गयी है। महाभारत में लिखा है:—

यथा चानिमिषाः स्थूला जालं छित्वा पुनर्जलम्
प्राप्नुवंति तथा योगास्तत्पदं वीतकल्मषाः।
तथैव वागुरां छित्वा बलवन्तो यथा मृगाः
प्राप्नुयुर्विमलं मार्गं विमुक्ताः सर्व बन्धनैः।
लोभजानि तथा राजन् बन्धनानि बलान्विताः
छित्वा योगाः परं मार्गं गच्छन्ति विमलं शिवम्।
अबलाश्च मृगाः राजन् वागुरासु तथापरे,
विनश्येति न सन्देहस्तद्वद्योग बलादृते।
बलहीनाश्च कौन्तेय यथा जालंगता झषाः,
अन्तं गच्छन्ति राजेन्द्र, योगास्तद्वत्सुदुर्बलाः।
यथा च शकुनाः सूक्ष्मं प्राप्य जालमरिन्दम्,
तत्र सक्ता विपद्यन्ते मुच्यन्ते च बलान्विताः।
कर्मजैः बंधनैर्बद्धास्तद्वद्योगाः परन्तप,
अबला वै विनश्यन्तिमुच्यन्ते च बलान्विताः।

यह तो स्पष्ट ही है कि 'बलान्वित' ही इस संसार-पाश का समुच्छेदन कर सकते हैं। 'अबल' व्यक्तियों का विनाश नितान्त स्वाभाविक है। यदि अग्नि की छोटी सी चिनगारी से हमें विश्व अतिक्रान्त करना है तो पहले उसे यथेष्ट रूप से प्रदीप्त करना पड़ेगा। संसार में दबकर चलने से तेज का प्रादुर्भाव नहीं होता।

तद्काल बलोयोगी, दीप्त तेज महाबलः
अन्तकाल इवादित्यः, कृत्स्नं संशोषयेज्जगत्।

अतएव बल ही सब कुछ है। दब जाना कायरता है।
अहिंसा कायरता का दूसरा नाम है। अहिंसा की आ
में कायर लोगों को अपनी निष्क्रियता और नपुंसक
छिपाने का अवकाश मिलता है। तेज के उपार्जन से
मनुष्य में यह शक्ति उत्पन्न हो सकती है कि यह अ
को ही ब्रह्म समझने लगता है। इसी आत्म-ज्ञान के
उसका ब्रह्म के साथ एकीकरण होता है। गीता में
जी ने बहुत से स्थानों पर समझाया है कि संसा
सब से अच्छे प्रत्यक्ष पदार्थों में वे स्वयं विद्यमान हैं
तेजस्वी कृष्ण जी का ही हाल नहीं है। बृहदारण्यक
निषद् में ऋषि श्रेष्ठ वासुदेव जी ने भी यह कहा
सूर्य में जो पुरुष प्रकाशमान है वह मैं ही हूं। इसी

संसार में सद्दर्पण करना अत्यन्त आवश्यक है। सद्दर्पण उत्पादित करके उसमें अपना बल दिखाने और दूसरों को परास्त करने में ही तेज का योग हो सकता है।

मार्ग में इसी प्रकार सोचता-सोचता मैं आगे बढ़ा। एक ओर बल का प्रदर्शन करने की अभिलाषा थी और दूसरी ओर मानव-समाज के प्रति घृणा अधिकाधिक बल पकड़ती जाती थी। बस, इन्हीं दोनों प्रचण्ड वायु के झोकों में मेरा मन इधर-उधर उड्डीयमान हो रहा था। शीघ्र ही सम्मुख से आता हुआ एक दरिद्र यात्री दृष्टि गोचर हुआ। ज्योंही वह मेरे निकट आया; उसने बड़े वेग से अपना भोंपू बजा दिया। मैं चौंक उठा और तुरन्त ही उसकी धृष्टता के लिए उसे दण्ड देने को आगे बढ़ा। उसने बड़े विनम्र भाव से मुझसे क्षमा-याचना की। क्रोध बड़े वेग से मुझे वशीभूत किये था। वह कन्दुक की

हो सकते ? उसने धीमे स्वर से उत्तर दिया, 'मैं आप की बात समझता हूँ। उस समय मुझे यही सूझा कि मुक्ति के लिए मुझे गृहस्थी का त्याग ही उपयुक्त है। मैं मुमुक्षुः हूँ। इसी लिये इधर-उधर भ्रमण करता हूँ।'

मुझे ये शब्द सुनकर कि 'मैं मुमुक्षु हूँ' बड़ी हँसी आयी। मैं समझ गया कि यह कोई अत्यन्त मूर्ख जीव है। 'मुमुक्षु' किसे कहते हैं, यह समझता ही नहीं है। इतना सोचकर मैंने कुछ ऊंचे स्वर से उससे पूछा, "अरे धूर्त! तू यह भी समझता है कि 'मुमुक्षु' किसे कहते हैं? इस 'मुमुक्षु' के अर्थ न समझने वाले व्यक्तियों ने ही देश के सहस्रों नवयुवकों का जीवन नष्ट कर दिया। जिस समय उन्हें संसार में रहकर उसकी और अपनी उन्नति करनी चाहिए; उस समय वे इधर-उधर मारे-मारे घूम कर अपने आपको निस्साहसी, कायर, भिखमँगे, मगरूर मिथ्याभिमानी और पतित बना लेते हैं। इस प्रकार का मनोभाव बहुत युगों से, हम भारतवासियों में फैल गया है। इसी से संसार में हम किसी प्रकार की उन्नति नहीं कर सकते। अन्य देशवासी भौतिक उन्नति करके हमें दास बनाये हुए हैं। हमें तो आध्यात्मिक उन्नति की मृग-तृष्णा से ही छुट्टी नहीं है। हम लोगों के हृदयों में एक मिथ्

आडम्बर अध्यात्मवाद का उत्पन्न हो गया है। हम समझते हैं कि केवल उसी रीति से हमारी उन्नति होगी। वार-बार विचार-पट पर आध्यात्मिक उन्नति का चित्र देखने का हम प्रयत्न करते हैं और मिसमेरिज्म के निराधार भ्रमात्मक आकारों की भाँति उसे देखते भी हैं। इसी प्रकार अपने को धोखे में डाले हैं, और प्रतिदिन पतन की ओर अग्रसर हैं। भौतिकवाद के पण्डित और प्रत्यक्ष उन्नति करने के क़ायल राष्ट्र उन्नति करते जाते हैं और हम से बहुत आगे बढ़ गये हैं।"

भिक्षुक मेरी बातों को बड़े ध्यान से सुनता रहा। मेरे चुप होने के बाद उसने बड़े विनम्र भाव से जानना चाहा कि 'मुमुक्षु' कहते किसे हैं। 'मुमुक्षु' का क्या अर्थ है: विश्व में इसके अर्थ के भ्रम का अन्धकार कब से फैला है।

इसके इस अज्ञान का परिचय प्राप्त करके मुझे दया आयी। मैंने उससे 'मुमुक्षु' शब्द की व्याख्या आरम्भ की। मैंने उसे बतलाया कि मुमुक्षु के केवल अर्थ मरने की इच्छा रखने वाला है। मेडिकेल जुरिसपुडेन्स (Medical Jurisprudence) नामक पुस्तक में एक ऐसे व्यक्ति का उदाहरण दिया है जो केवल वैज्ञानिक प्रयोग के लिए कई बार मर जाया करता था और डाक्टरों

को बुला कर निकट बैठा लिया करता था वे उसकी मृत्यु-
प्रणाली का अनुशीलन करते थे। एक बार यह मृत होकर
फिर न लौटा। इससे यह ज्ञात होता है कि यह एक ऐसा
विधान था जो उस समय के लोगों को विदित था और
उसे प्राचीन काल में लोग जानते थे। इस विधान से
मरने की प्रणाली जो व्यक्ति जानते थे उन्हें मरने के समय
की दुःसह पीड़ा नहीं होती थी। वे उस क्रिया द्वारा जब
चाहें, शरीर छोड़ सकते थे। यह वैज्ञानिक क्रिया भारतीयों
को सम्भवतः प्राचीन काल में ज्ञात थी, मनुस्मृति में एक
स्थान पर लिखा है कि यदि एक वानप्रस्थ यह अनुभव
करने लगे कि उसके शरीर की शक्ति क्षीण हो गयी है
तो उसे अधिकार है कि वह भोजन परित्याग करके
अपना शरीर त्याग दे। इससे यह सिद्ध है कि
हमारे हिन्दू शास्त्रों में भी मरने के लिए एक प्रका
का विधान विहित है। प्राचीन जैन लोग इस प्रथा
अनुसार काम करते रहे परन्तु बाद के जैन लोग
तत्व को भूलकर केवल भूख से देह परित्याग करने
ही मुख्य सिद्धान्त समझ बैठे और इससे बड़ा अ
होने लगा। तात्पर्य यह है कि 'मुमुक्षु' इस वानप्रस
पहले है जो शरीर की दुर्बलता और क्षीणता के

उसे परित्याग करके मरना चाहता है। वर्तमान युग के वेदान्तियों ने भी इसके अर्थ समझाने में थोड़ा बहुत घपला किया है।"

'मुमुक्षु' की यह नयी परिभाषा सुनकर उस भिक्षुक को थोड़ी बेचैनी-सी हुई और वह मुझे छोड़कर आगे बढ़ा। मैं कुछ ध्यानावस्थित-सा था। मार्ग में एक दमसे ठोकर लगी। पत्थर से पैर फट गया। मुझे बहुत अधिक क्रोध आया। पैर की ओर तो मैंने बाद में ध्यान दिया, पहले मैंने बलपूर्वक पत्थर को पृथ्वी से उखाड़ लिया और इतने वेग से उसे पूर्व की ओर फेंका कि दूर से उसे एक वृक्ष से टकरा कर भूमि पर गिरते देखा। तत्पश्चात् पैर पकड़कर मैं बैठ गया। इतने में एक कपोत का महान कलरव सुनाई पड़ा। मैं उस शब्द की ओर बढ़ा और आगे चलकर मैंने देखा कि मेरे ही ढेले से आहत होकर वह कपोत शरीर त्याग रहा है। मुझे अपनी मूर्खता पर थोड़ा सा परिताप हुआ। परन्तु परिताप व्यर्थ था। मेरे पहुँचते-पहुँचते पक्षी निष्प्राण हो चुका था।

इस घटना के थोड़ी ही देर बाद सामने मार्ग से मुझे दो महिलाएँ आती देख पड़ीं। मैंने उनके साथ दो अन्य पुरुषों को भी देखा। ये सब मेरे बहुत निकट

ा गये। पूछने से ज्ञात हुआ कि इन महिलाओं को ये
दोनों डाकुओं से छुड़ा लाये हैं। इन्होंने अपनी कथा इतनी
वीरता के साथ वर्णन की, कि मुझे ऐसा भास होने लगा
कि यह अपने अतिरिक्त किसी को वीर ही नहीं समझते
हैं। मुझे ऐसा प्रतीत होने लगा कि वीरता में ये अपने
को विश्व-श्रेष्ठ समझते हैं और मुझे तिल-भर भी नहीं
गिनते। थोड़ी देर तक तो मैं इनकी आत्म-विरुदावली
सुनता रहा, परन्तु अन्त में न रहा गया। मैंने आगे बढ़कर
एक का हाथ पकड़ लिया और कहा आत्माभिमानियो, मैं
अकेले तुम दोनों मर्दों को चूर कर सकता हूं। मेरी
इस आकस्मिक वृत्ति पर ये थोड़े सहम से गये और बाहें
चढ़ा कर मुझसे लिपट गये। बहुत झगड़ा हुआ। मैं भी
आहत हुआ। इतने में उनमें से एक रणक्षेत्र छोड़ कर
पलायमान हो गया। दूसरा मुझसे बहुत देर तक लड़ता
रहा। हम दोनों अशक्त हो गये। अन्त में उसने आत्म-
समर्पण कर दिया। मैं भी प्रसन्न हुआ। यह व्यक्ति भी
उन महिलाओं को छोड़ कर न जाने कहाँ चल गया। ये
महिलाएँ मेरे सौन्दर्य और पराक्रम को देखकर मेरे चरणों
पर आ गिरीं और उन्होंने अपने आपको समर्पण कर
दिया महिला-समाज के चाञ्चल्य और प्रणयासिक्तता

का उदाहरण मुझे पर्याप्त मिल चुके थे। इनके स्निग्ध और सुन्दर कटाक्षों के बीज मेरी हृदय की शुष्क मरुस्थली में अंकुरित तक न हो पाये। मैंने दो चार बातें इन्हें भी सुनायीं। यदि आत्म-समर्पण में ये महिलाएँ प्रतिरोध करतीं तो अवश्य मैं इन्हें अपने बल से आत्म-साध करने के लिये पराक्रम दिखाता। परन्तु इन्होंने तो स्वयं आकर आत्म समर्पण किया था। यह मुझे रुचिकर न था। सिंह उसी पशु को खिला-खिला कर मारता है जो उसके व्यापार में प्रतिरोध करके अन्त तक अपने प्राण रक्षा के लिये युद्ध करता है। मैंने उचित समझा कि इन महिलाओं को इसी कुत्सित अवस्था में छोड़ दिया जाय। परन्तु उन्होंने मेरे साथ रहने का आग्रह किया। उनके करुण-क्रन्दन से मेरा हृदय कुछ आर्द्र हुआ और मैंने उनको अपने साथ चलने में कोई रुकावट न डाली।

थोड़ी दूर चल कर मैंने देखा कि एक नाटक हो रहा है। सारा स्थान खचाखच भरा था। मैंने प्रवेश करना चाहा। द्वार पर ही थोड़ी धक्का-मुक्की हुई। मुझे प्रवेश करना दुर्लभ सा प्रतीत होने लगा। परन्तु मैं उन महिलाओं के साथ किसी न किसी प्रकार से भीतर प्रविष्ट हो गया। वहां मैंने देखा कि जो स्थान मेरे उपविष्ट होने

लिए अर्पित किया गया था वह मेरे लिए सर्वथा अनु-
युक्त था। मैंने देखा कि वे व्यक्ति जो मुझसे आगे बैठे हैं
कसी भी दृष्टि में मुझसे अच्छे नहीं है। मैंने अनुभव
किया कि मेरा अपमान किया गया है। क्रोध से मेरी
आकृति रक्त वर्ण हो गयी। नेत्र लाल हो गये। शरीर
तमतमा आया। नेत्रों के सामने अँधेरा छा गया। क्रोध
में मुझे तनिक भी ज्ञान न रहा। मैं मृग-शावक के
उत्प्लवन से झट कूद कर आगे जा कर एक स्थान पर
बैठ गया। इस स्थान पर बैठे हुए व्यक्ति को मैंने वेग के
साथ स्थानच्युत कर दिया। यह बात सब को अशिष्ट
प्रतीत हुई। कुछ व्यक्ति तो मुझसे युद्ध करने को तत्पर
हो गये। कुछ लोगों ने यहाँ तक कह डाला कि मैं पागल
हूँ। मेरे क्रोध ने तो नीतिमत्ता की सीमा पूर्व ही उल्लंघन
कर दी थी, अब केवल उसे प्रदर्शन में विलम्ब था। झट युद्ध
आरम्भ हो गया। प्रथम आक्रमण मैंने ही आरम्भ किया।
घमासान मार-पीट होने लगी। चारों ओर से मैं आहत
किया जाने लगा। मैंने भी आक्रमणकारियों को उनके
अन्तर-सञ्चारी रक्त के दर्शन कराये। क्रोध से मुझमें
चौगुना बल आ गया था। खूब कुश्ती दङ्गल चले। नाटक
स्थगित हो गया। कई स्थान पर मैं आहत हो गया

था। मैंने सोचा कि इस समय साहस का सर्वोत्कृष्ट प्रदर्शन यह है कि मैं इस स्थान से भाग जाऊँ। इसी विचार के साथ मैं मृगराज के वेग से झपट कर नाटक-शाला के द्वार पर आया। वहां भी दो तीन व्यक्तियों को आहत करता हुआ उस स्थान से चला गया। बहुत से व्यक्ति मेरे पीछे दौड़े; परन्तु मुझे न पा सके।

विशाल मार्ग पर पहुँच कर मुझे स्मरण आया कि मैंने उन दो आश्रित रमणियों को असहाय छोड़ दिया है। अतएव मैं फिर लौटा। इतने में मार्ग में वे दोनों मुझे एक व्यक्ति के साथ आती दिखायी दीं। मेरे निकट पहुँच जाने पर भी उन्होंने मेरी ओर कुछ ध्यान न दिया और उसी व्यक्ति के साथ आगे बढ़ती गयीं। मुझे इस व्यवहार से क्रोध आ गया। मैंने पूछा, आप लोग इस व्यक्ति के साथ कहाँ जा रही हैं। उन्होंने हँसकर कहा, आपको क्या करना है? आप तो हम लोगों को छोड़कर चले आये थे। मैं कुछ न बोला। वे आगे बढ़ गयीं। क्रोधाग्नि और प्रज्वलित हुई। मैं अपने आप को सँभाल न सका। जिस प्रकार पक्षिराज एक छोटे से पक्षी को आत्मसात करने के लिए टूट पड़ता है उसी प्रकार मैं मन के वेग से भी अधिक वेग से उस व्यक्ति पर टूट पड़ा, जो इन

महिलाओं को अपहरण कर, लिये जा रहा था। वह
लगुल असावधान था। शरीर का दुर्बल भी था।
र प्रहार की असह्य वेदना से वह धराशायी हो गया।
ने वन रमणियों को भी बड़े कटु शब्द सुनाये। वे तुरन्त
रे साथ चलने को प्रस्तुत हो गयीं। परन्तु मैंने उन्हें
साथ ले जाना अस्वीकार कर दिया।

अभी क्रोध कम न हुआ था। मैं मस्ती के साथ आगे बढ़ रहा था। प्रकृति का सुन्दर और शान्त दृश्य मेरे हृदय को शान्त रखने की क्षमता न रखता था। मैंने उसकी ओर ध्यान भी न दिया। परन्तु धीरे-धीरे हृदय स्वयं शान्त हो गया शीघ्र ही सामने के मार्ग से मेरा बिछुड़ा हुआ अवधूत शिष्य आते दिखायी दिया। इसको देखकर अनायास मेरे हाथ उसे प्रणाम करने के लिए उठ गये। उसने मुझे बड़ी तत्परता से प्रणाम किया। हम दोनों एक स्थान पर बैठ गये। कुशल-वार्तालाप के पश्चात् उसने मुझसे मेरी कथा सुनी। मैंने अपनी सारी गाथा कह सुनायी, उसने ठण्डी साँस लेकर कहा 'गुरू जी आप अपने मार्ग से फिर बहुत दूर आ गये है। मुझे यह सुनकर बड़ा खेद हुआ। मैंने करबद्ध होकर उससे पूछा कि भगवन् मेरा उपकार कैसे होगा। अभी उस बार महिला-समाज

के संसर्ग से मुझे कितना कष्ट उठाना पड़ा है परन्तु इस बार फिर असहाय रमणियों की धूर्तता समझना हुआ भी मेरा मन उनकी ओर स्निग्ध था और उनको साथ ले चलने के लिए प्रस्तुत सा हो गया था। इस स्निग्ध भाव के परित्याग करने में मुझे महान कष्ट हुआ। इसका क्या कारण है? महिलाओं में क्या कोई दैहिक स्निग्धता रहती है? उनके हृदय में स्निग्धता, उनके वचनों में स्निग्धता, इसका क्या कारण है?

इस पर अवधूत ने मुस्करा कर मुझसे कहा, 'वास्तव में परम्परा से हम महिलाओं में सुकुमारता और आर्द्रता आरोप करने के अभ्यस्त हैं। हम उनमें कठोरता की व्याख्या ही नहीं करते हैं। उनके भावव्यञ्जन में सुकुमारता का प्रस्रोत प्रवाहित हो जाता है। यही कारण है कि उनके स्निग्ध भाव प्रदर्शित करने पर हमारा क्रोध शीतल हो जाता है और हम उनका सामीप्य रुचिकर समझने लगते हैं। इसपर मैंने पूछा, कि "यह स्त्री पुरुष का भेद भाव कैसे प्रतीत हो सकता है?"

इस प्रश्न का उत्तर अवधूत ने यह कहकर दिया कि आप को इस भेद भाव के स्पष्ट करने के लिए ज्ञानी होने की आवश्यकता है। ज्ञानी से मेरा अभिप्राय उस पाण्डित्य से है

सकी विवेचना भाँति दी है:—

विद्या [illegible] मात्रे प्राप्ते पारे इन्तिनि ।

श्रुति पर बल्के च पण्डिताः गर्मर्दिनः ॥

इस पर मैंने पूछा कि क्या प्रत्येक व्यक्ति में तिरोहित रूप से 'पण्डित' बनने का सामर्थ्य रहता है ?

उसने तुरन्त उत्तर दिया—"अवश्य । मनुष्य में सारी उच्च उन्नति के परिमाणु सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप में अप्रस्फुटित रूप से विकासशील स्थिति में उपस्थित रहते हैं । जिस ओर जिस उन्नतिशील अवस्था का मनुष्य अपने में विकास करना चाहता है उसी ओर वह विकसित हो सकती है ।"

मैंने फिर प्रश्न किया कि, "उन्नत अवस्था के परिमाणुओं का सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप उपस्थित रहने का आपके पास क्या प्रमाण है ?"

अवधूत ने उत्तर दिया, "इसका समझना, गुरु जी, मेरी धारणा में उतना कठिन नहीं है जितना कि प्रथम प्रतीत होता है । हमारी सारी शक्ति एक प्रकाशमान दीपक की भाँति है । हमारा अज्ञान इसे एक अत्यन्त स्थूल वस्त्र के अञ्चल की भाँति प्रतिच्छन्न किये है । जिस दिशा का अज्ञान दूर हो जाता है, उसी दिशा में

वस्त्र में छिद्र हो जाता है और हमारे ज्ञान की लौ उस ओर दिखने लगती है। हमारे साथी कहने लगते हैं कि अमुक व्यक्ति ने अमुक दिशा की ओर खूब उन्नति की है। जितनी दिशाओं की ओर हमारा अज्ञान नष्ट हो चुका है उतनी दिशाओं की ओर अञ्चल में छिद्र हो जायंगे और हमारे ज्ञान का स्वरूप दीखने लगता है।

एक और बड़ा प्रमाण हममें ज्ञान शक्ति के विराजमान होने का यह है कि अधिक बार हम जब किसी सुन्दर कविता को सुनते हैं अथवा सुन्दर भाव अक्षरों में व्यञ्जित पाते हैं तो एकाएक यह विचार आ जाता है कि यह तो बिलकुल मेरी ही कविता है अथवा ये तो मेरे ही भाव लेख में व्यक्त किये गये हैं। हमारी हृदयतन्त्री उन भावों से झङ्कृरित होती है। हमारे आन्तरिक ज्ञान-प्रकाश की एक लपट निकल कर मानों बाहर के व्यक्त-भाव-प्रकाश से एकीकरण करने लगती है। परन्तु अज्ञान का परदा जब तक सुदृढ़ रहता है, वह आन्तरिक प्रकाश पुनः बल से छिपा दिया जाता है।

परन्तु यदि पुनः पुनः इसी दिशा की ओर ज्ञान-प्रकाश की रश्मियां निकलने लगें तो वे अत्यन्त हो जाती हैं। अज्ञान पट उस दिशा की ओर जीर्ण हो जाता

है; यहां तक कि एक दिन उसमें छिद्र हो जाता है और फिर ज्ञान-दीपक का वह भाग प्रत्यक्ष हो जाता है। इससे अधिक स्पष्ट रूप में ज्ञान की अस्फुट उपस्थिति का प्रमाण व्यक्ति में अन्य उदाहरणों में न होगा। इसी ज्ञानार्जन में 'पण्डित' बनाने की क्षमता है।" यह उदाहरण हृदय में बहुत बैठ गया। 'पण्डित' बनने के सम्बन्ध में नाना प्रकार के भाव उत्पन्न होने लगे। एक विचार यह भी आया कि ज्ञानार्जन करने के लिए योग कहां तक सहायता देता है। ईश्वर कहां तक मदद करता है। नास्तिक होने से क्या ज्ञानोपार्जन हो सकता है। इसी विचार धारा में मैं निमग्न था कि मेरे शिष्य ने मेरे चरण पकड़ कर पूछा कि आप क्या विचार कर रहे हैं? मैंने अपने भाव स्पष्ट कह दिये। इस पर वह तुरन्त बोल उठा, गुरुवर, नास्तिक के सम्बन्ध में तो इधर कुछ काल से साधारण बोल-चाल में एक और ही अर्थ लगाया जाता है। वास्तव में नास्तिक शब्द का यह अर्थ शास्त्र-विहित नहीं है। यदि हम नास्तिक का प्रचलित अर्थ लें तो कुमारिल भट्ट, प्रभाकर इत्यादि सभी मीमांसाकार नास्तिकों की श्रेणी में आजायेंगे। प्राचीन काल में नास्तिक उसे कहते थे जो "नास्त्यात्मा, नास्ति पर-

लोक," इस मत का प्रतिपादक हो। अर्थात् जो पूर्ण रूपेण जड़वाद का ही पोषक हो। "नास्तिको वेद निन्दकः" का भी यही अभिप्राय है। यदि जगद्-स्रष्टा के न मानने वाले को नास्तिक कहते हैं—इस अर्थ का ही प्रतिपादक नास्तिक शब्द हो तो हमारे सारे दर्शनकार आस्तिक न रह जायँगे।

"अब रहा योग के सम्बन्ध में। मेरा विश्वास है कि योग से ज्ञानोपार्जन हो सकता है। विना चित्त वृत्ति के निरोध के आत्मबल (Will Power) शक्तिमान नहीं हो सकता। 'योगः क्रियासु कौशलं', अर्थात् क्रिया कुशलता को ही योग कहते हैं। चित्त वृत्ति का अवरोध करते हुए क्रिया कुशलता के साथ कार्य करना ही ज्ञानार्जन का सत्य मार्ग है। इसी से आत्मबल बढ़ सकता है। मन के वेग को कुमार्ग से रोकने का अभ्यास डालना और सन्मार्ग की ओर अधिकाधिक दत्तचित्त होना और लगन से स्थिर रहना ही योग है। मन पर इस संयमन और मानसिक व्यायाम से अधिकार प्राप्त होता है। और कुमार्गों की ओर से बचायी हुई मन की शमन शक्ति का सञ्चय सन्मार्ग की ओर अत्यधिक वेग से अग्रसर हो सकता है। सञ्चित शक्ति और सञ्चित

आत्मबल वाले व्यक्ति के आत्मबल में विश्व
आकृष्ट करने का महान बल होता है। ....
बल को वह जिस ओर प्रक्षिप्त कर देता है उसी के
वह आत्मसाध कर लेता है। जितना ही यह बल जिस
में अधिक होता है उसकी आत्मा उतनी ही बड़ी होती
है। महान आत्मा में विश्व को अपना मार्ग दिखाने की
शक्ति उत्पन्न हो जाती है। जिस प्रकार संसार में
मिसमेरिज्म करने वाला अपनी नेत्र शक्ति की प्रबल
अथवा अपने मनोयोग के बल से किसी भी अविकसित
बालक की आत्मा को केवल देखकर ही आत्मसाध कर
लेता है उसी प्रकार एक योगी जड़ और चेतन सभी को
अपनी ओर आकृष्ट कर सकता है। यही कारण है कि
महात्मा गांधी, महात्मा बुद्ध सरीखे व्यक्तियों को अपने
सिद्धान्तों के प्रचार करने में शक्ति मिली। इन योगियों
की इच्छा में बल होता है और केन्द्रीभूत आत्मबल को
किसी दिशा में किसी कार्य में लगा कर सफलता प्राप्त
कर सकते हैं। वह दूसरे की आत्मा को उतनी ही वेग के
अधिकृत कर सकता है जितने वेग से एक मिसमे-
एक बालक की आत्मा को तल्लीन कर लेता है।
वस्तु को वह स्वयं देख...

हुआ बालक आत्म तल्लीनता के कारण से बतला देता है। कारण यह है कि आकर्षण से आत्मा का क्षणिक एकीकरण हो जाता है और स्थिति में अधिक विकसित आत्मा का आधिपत्य निर्बल आत्मा को स्वीकार करना पड़ता है और विजयी आत्मा की आज्ञा के अनुसार काम करना पड़ता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि आत्मबल आत्मा के विकास का लक्षण और साधन है और ज्ञानोपार्जन का मुख्य विधान है। 'पण्डित' इसी योग ही से मनुष्य बन सकता है। और तभी स्त्री और पुरुष के भेद-भाव का विस्मरण हो सकता है। यही नहीं, मानव सृष्टि और पशु-सृष्टि में वह कोई भेद-भाव नहीं देखता है। आगे बढ़कर जड़-चेतन का भी भेद-भाव मिट जाता है और केवल एक ब्रह्म ही ब्रह्म देखने लगता है।" अवधूत की योग के सम्बन्ध की इन बातों को सुनकर चित्त में कुछ विचार नवीनता का सञ्चार हुआ। फिर एक बार मैं सोचने लगा कि मैं बड़े भ्रम में पड़ गया था। हृदय उमड़ आया। मैं अश्रु-अवरुद्ध कण्ठ से अपने शिष्य से कहने लगा, "मैं बड़े भ्रम में पड़ गया था! आज जो बातें तुमने बतलायीं, ये सब मेरी अध्ययन की हुई हैं। परन्तु

जितना मैंने आज उन्हें समझा है उतना कभी नहीं समझा था। उन्हीं पुराने सिद्धान्तों में तुमने बिलकुल नये विचारों का दिग्दर्शन कराया। हम तुम्हारे बड़े कृतज्ञ हैं। अब हमें यह आदेश करो कि भविष्य में हम अपना जीवन निर्वाह कैसे करें। किस प्रकार हम इस नयी व्याधि से मुक्त हों। मानव-समाज के प्रति मुझे घृणा हो गयी थी। उसके प्रति मुझे अकारण ही क्रोध उबला करता था। इससे मैंने अपनी बहुत ही हानि की है। इस का प्रायश्चित मुझे कैसे करना चाहिए।

इस पर उस अवधूत ने कुछ मुसकुरा कर कहा कि क्रोध से बचने का सबसे सरल विधान यह है कि जिस समय आपका मन इसके वशीभूत हो उसे तुरन्त उधर से खींचिए। यह कार्य कठिन है, परन्तु अभ्यास से सरल हो जायगा।

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्।

थोड़ा सा सोचकर मैंने फिर कहा, "परन्तु इस बात में कहां तक सत्यता है, कि क्रोध के बिना मनुष्य में तेज नहीं रहता और न क्षात्र-धर्म ही का वह पालन कर सकता है। यह भी बतलाए कि यदि अर्जुन में कौरवों

के दुराचरण के कारण क्रोध न उत्पन्न होता तो दुष्टों का संहार किस प्रकार होता ?"

अवधूत ने उत्तर दिया, "आप भ्रम में हैं, तेज क्रोध से नहीं आता ; प्रत्युत तेज क्रोध से हत हो जाता है। क्रोध की ज्वाला शक्ति का विनाश कर देती है। निशक्त व्यक्ति के तेज कैसे रह सकता है। क्रोध से प्रेरित होकर अर्जुन ने कौरवों से युद्ध नहीं किया प्रत्युत उनके अत्याचारों से रक्षा करने के लिए विरोध भाव से उन्होंने कौरवों से युद्ध किया था। क्रोध क्षात्र-धर्म का लक्षण नहीं है। युद्ध करने में भी क्रोध की आवश्यकता नहीं जिस प्रकार काम-वासना से रहित होकर भी एक व्यक्ति पुत्रोत्पादन कर सकता है उसी प्रकार क्रोध-भावना से रहित होकर भी व्यक्ति बड़ी शूरता से युद्ध कर सकते हैं। बल होते हुए भी जो व्यक्ति क्रोध नहीं करता वही वास्तव में शान्त है। कायर में क्रोध का अभाव होना गुण नहीं समझा जा सकता।

> नवे वयसि यः शान्तः, सः शान्त इति कथ्यते,
>
> धातुषु क्षीयमाणेषु समः कस्य न जायते।

इस स्थान पर एक राजपूत बाला का अधोलिखित पद पठनीय है—

नाहन आज न मांड पग, काल सुगाने अंग,
धारा लागं सोधगी, तब दीजे घग रंग।

कितने शान्त भाव से यह बाला कितने शूरता और तेज युक्त वचन कह रही है। क्या इन वाक्यों में क्रोध का तनिक भी पुट है? कदापि नहीं, इस स्थान पर इसी भावना की पुष्टि करने के लिए मैं दक्षिण के तामिलवेद के रचयिता महात्मा तिरुवल्लुवर के कुछ शब्दों का उल्लेख करता है।

(१) "जिसमें शान्ति पहुँचाने की शक्ति है उसी में सहन शीलता का होना समझा जाता है। जिसमें शक्ति ही नहीं है वह क्षमा करे या न करे उससे किसी का क्या बनता बिगड़ता है।

(२) "अगर तुममें हानि पहुँचाने की शक्ति न भी हो तब भी क्रोध करना बुरा है। मगर जब तुममें शक्ति हो तब तो क्रोध से बढ़कर ख़राब बात और कोई नहीं है।

(३) "तुम्हें नुकसान पहुँचाने वाला कोई भी हो गुस्से को दूर कर दो। क्योंकि गुस्से से सैकड़ों बुराइयाँ पैदा होती है।

(४) "क्रोध हँसी की हत्या करता है और ख़ुशी को नष्ट करता है। क्या क्रोध से बढ़कर मनुष्य का और कोई

भयानक शत्रु है ?

(५) "अग्नि उसी को जलाती है जो उसके पास आता है मगर क्रोधाग्नि सारे कुटुम्ब को जला डालती है।

(६) "मनुष्य की समस्त कामनाएँ तुरन्त ही पूर्ण हो जाया करें, यदि वह अपने मन से क्रोध को दूर कर दे।

(७) "जो क्रोध के मारे आपे से बाहर है वह मुर्दे के समान है, मगर जिसने क्रोध को त्याग दिया है वह सन्तों के समान हैं।"

यही नहीं क्रोध के और भी अनेक दुर्गुण हैं। गीता में कहा है:—

> क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
> स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥

क्रोध मनुष्य से कन्दुक की भाँति क्रीड़ा करता है। प्रत्येक संयमी व्यक्ति का कर्तव्य है कि इससे बचा रहे।

अवधूत की इन अन्तिम बातों का बड़ा प्रभाव पड़ा। सारा प्राचीन इतिहास स्वप्न-जाल की तरह मस्तिष्क पर अङ्कित हो गया। मैं अपने किये पर पश्चाताप करने लगा

उसने मुझे सान्त्वना दी। मध्याह्न हो चुका था। ग्रीष्म
काल की प्रचण्ड सूर्य-रश्मियां पृथ्वी स्थित जलाशयों में
अपनी पिपासा तृप्त कर रहीं थी। अत्यधिक उष्ण वायु
के झोंके वृक्षों को कम्पायमान और पादपों को धराशायी
करते हुए हम लोगों के कृष शरीर से वेग से टकराते थे।
पार्श्वस्थित पलाश वन, पुञ्जीभूत अग्निराशि की तरह
दीखता है। ऐसा प्रतीत होता है कि ग्रीष्मकाल के अत्यन्त
उष्ण दिवस में, सूर्य से प्राप्त-सन्तति होकर वसुन्धरा
ने महान अग्नि-तेज को सहन न करने के कारण अकाल
ही में प्रसव कर दिया है। वन की भयावह दशा देखकर
यह भी कल्पना आ जाती थी कि सम्भवतः इसी स्थान
पर शिव जी ने तृतीय नेत्र का उद्घाटन किया होगा
और यह पलाशवन दग्ध कामदेव के अवशेष अस्थिप-
ञ्जर हैं। तथा सूर्य से पृथ्वी सूर्यकान्त मणि की भांति प्रति-
तप्त होकर प्रलयकालीन दृष्टि की तीक्ष्णता से प्रविष्ट
प्रलयाग्नि को वमन कर रही है। मनुष्यों में केवल
किसान घर के बाहर हैं। पक्षियों में केवल चील्हें मण्ड-
लाकार उड़ रही हैं। चतुष्पदों में यत्र-तत्र रजक-रक्षक
हरी-हरी घास चरते दृष्टि गोचर होते हैं। पालतू महिषियां
जलाशयों में पड़ी हैं। एक ओर बतखें तैर रही हैं। बर्रें

और भौंरे अपने कार्य में रत हैं, मानो इन्हें धूप ही नहीं सताती। भ्रमर का काला शरीर मानो दग्ध पदार्थों द्वारा निर्मित किया गया है। इन्हें मालूम हो गया है कि जली हुई वस्तु अधिक नहीं जलाई जा सकती। इसी से वे निदाघ को चुनौती देकर कड़ी धूप में घूम रहे हैं। पुष्प से इनका इतना अनुराग है कि उष्णता के कारण कुम्हलाये हुए आकृतिवाली पँखुड़ियों के ऊपर छाया करने के लिए ये पङ्ख फैलाकर उड़ रहे हैं। इनकी मस्तानी भन-भनाहट में अतीत के गान का स्वर है। पुष्पों से पुष्पों पर निरन्तर स्थिति होकर भ्रमर ने सब के भक्तिरस की परीक्षा ले ली। अब यह प्रार्थना करता है कि भगवान या तो मुझे उस कली के दर्शन करादे, जिसमें रस कभी क्षीण नहीं होता और एक रस बना रहता है, अथवा इस दग्ध शरीर से उसका छुटकारा कर दे।

मध्यान्ह समय का यह भयावह दृश्य हृदय को निस्त ब्ध करने वाला था। अवधूत ने मुझको एक निकटवर्ती देव-मन्दिर में मध्यान्ह का समय व्यतीत करने का परामर्श दिया। हम दोनों उस देव-मन्दिर में जाने को प्रस्तुत हुए। मार्ग में अवधूत यह कहता जाता था कि मानव समाज को उन्नत करना हमारा कर्तव्य है। अतएव, उसके

प्रति स्निग्ध भाव रखना आवश्यक है। क्रोध करने से विद्वेष होता है। विद्वेष से चरित्र हीनता आती है। इतना कहते हुए हम दोनों देव-मन्दिर में प्रविष्ट हुए। शिव की प्रतिमा बड़ी भव्य और सुन्दर थी। मैं निर्निमेष दृष्टि से उसकी ओर देखता रहा। शीघ्र ही हम दोनों पत्थर की चट्टान पर लेट गये। मुझे निन्द्रा सताने लगी। सामने से आता हुआ प्रकाश हम दोनों के मुँह पर पड़ रहा था। मैं हृदय से विचार करता था कि ऐसे पवित्र स्थान पर मुझ जैसे पापी ने कैसे प्रवेश किया। मैं इस स्थान में प्रविष्ट होने के योग्य नहीं हूं। सामने का प्रकाश और भी दुःख दे रहा था। मैं झट उठा और मैंने द्वार-वृत किये। असावधानी और त्वरा के कारण मेरी एक उँगली किवाड़े से दब गई। मैंने शीघ्रता से उसे निकाला। पर वह आधी दब चुकी थी। रक्तपात आरम्भ हो गया। मुझे पीड़ा होने लगी। मेरा शिष्य सो गया था। मेरी आहट पाकर वह झट उठा और उसने मेरा अँगौछा फाड़ कर उँगली में बाँधा। उसके स्पर्श मात्र से मेरी पीड़ा कम हो गयी। उसने मुझसे कहा, 'भगवन् यह भी अच्छा ही हुआ। पापों का प्रायश्चित हो जाना ही अच्छा है।'
"मैंने सोचा कि तीन बार भटक कर मैंने तीन उंगलियां

खो दी हैं। भगवान अब इस विपदा से बचावें, यही सोच विचार के साथ मैं सो गया। अवधूत मेरे चरणों के पास बैठकर पैर दबाने लगा। मैंने झट उसे हटाकर अपने पास बैठा लिया और उसकी जङ्घा पर अपना मत्था रखकर निद्रित हो गया। अर्द्ध-निद्रित अवस्था में मैंने यह स्वप्न देखा कि शिवालय की सुन्दर मूर्ति मुझसे कहती हैं, 'हे प्राणी। मानव समाज के प्रति प्रेम और स्नेह करना सीखो। क्रोध पाप का मूल है।' मेरी आँख झट खुल गयी। मैंने देखा कि मेरा अवधूत मित्र काफूर हो गया है। मैंने तुरन्त उठकर देखा कि वह कहाँ है। उसे बहुत कुछ खोजा परन्तु वह कहीं दृष्टि गोचर न हुआ। मैंने बुलाया भी परन्तु किसी ने उत्तर न दिया। मैंने सोचा कि इसने फिर मुझे धोखा दिया। अकस्मात् अविरल अश्रुधारा प्रवाहित होने लगी। मुझे अत्यन्त दुख हुआ। नेत्रों के समक्ष अन्धकार छा गया। मैं सोचने लगा कि जिस प्रकार बाण को दूर प्रक्षिपन करने के लिए कार्मुक उसे अपने हृदय के निकट पहले आकृष्ट करता है और फिर इतने वेग से छोड़ देता है कि बाण का पता तक नहीं लेता उसी प्रकार यह अवधूत मुझे आकृष्ट करके दूर से दूर फेंक दिया करता है। धनुष की भाँति यह भी उतनी ही तत्परता के साथ

मुझे अपनी ओर आकृष्ट करता जितनी अधिक

मुझे फेंकना होता है।

थोड़ी देर में मैं फिर उसके चले आने की

लगा। यह भी तर्क हुआ कि सम्भवतः यह उदर

के लिए गया हो। परन्तु अधिक देर हो जा

मुझे पूरा विश्वास हो गया कि यह कहीं च

धीरे धीरे सन्ध्या हो गयी। मैं मन्दिर के

पत्थर का चबूतरा अभी अवशेष उष्णता

कुछ काल तक मैं टहलता रहा। फिर धीरे

पर बैठ गया। अभी मेरे विचार-पट पर

प्रतिमा चक्कर कर रही थी।

सन्ध्या समय का अवसान हो रहा था

अपनी सम्पूर्ण कला से क्षितिज पार आ

ओर अग्रसर थे। पश्चिम दिशा में दिवस

म्लान दिखायी पड़ते थे। दोनों में बड़ा सा

पूर्व में नक्षत्रावलियां थीं और पश्चिम

शीघ्र ही रजनी के साथ क्षमानाथ की

सागर विलीन उष्ण-किरण की केवल र

अवशेष रह गयीं। शनैः शनैः आकाश

के स्थान में नीलिमा का साम्राज्य

चन्द्रज्योत्स्ना की धवलता का मनोहर आवरण था।

मुझे मन्दिर के बाहर बैठे अतिकाल हो गया था कि इतने में एक अत्यन्त वृद्ध महिला धीरे-धीरे देव मन्दिर के द्वार पर पधारी। उसके हाथ में एक पत्र था। बड़ी सावधानी के साथ वह उसे अपने हृदय से लगाये हुए थी। बड़ी भक्ति से उसने देव प्रतिमा को प्रणाम किया। और फिर फूटफूट कर रोने लगी। उसने सम्भवतः इस बात की ओर ध्यान भी न दिया था कि मैं उस स्थान पर उपस्थित हूं। उसके करुण-क्रन्दन से मेरा हृदय भर आया। नेत्र डबडबा आये। मैं यह न समझ सका कि उस वृद्ध महिला को कौन सा कष्ट है। वस्त्र-परिधान से वह एक उच्च घर की महिला प्रतीत होती थी। उसका सेवक भी उससे बहुत दूर खड़ा था। जब उसने ईश्वराराधना समाप्त किया तो मैं उसके निकट गया। उसके सुन्दर भावों ने मेरे हृदय में आदर का भाव उत्पन्न कर दिया था। वह करुण-भाव में इतनी निमग्न थी कि उसने पहले तो मेरी ओर ध्यान भी न दिया। परन्तु थोड़े काल के पश्चात् मेरी ओर देख कर कहा, "कौन, रमेश!" मैं लज्जित हो गया। उसके नेत्रों से वात्सल्य भाव का प्रश्रोत निरन्तर प्रवाहित था। धीमे स्वर से

मैंने उससे कहा कि माता मैं रमेश नहीं हूं। इतना सुनते ही उसने नेत्र बन्द कर लिये और उसी स्थान पर बैठ गयी और कुछ समय के लिये संज्ञा हीन सी हो गयी। उसके हाथ से पत्र गिर गया। मैंने उसे उठा लिया और पुर्णेन्दु ज्योत्स्ना के प्रकाश में उसे पढ़ने लगा। पत्र में लिखा थाः—

साबरमती,

२७—४—१९२७

पूजनीया माता जी,

वात्सल्य भाव से परिप्लावित आपका पत्र प्राप्त हुआ। और भी आपके कई पत्र प्राप्त हुए। उनके उत्तर लिखने का समय न मिला। एक बात यह भी है कि आपके प्रति अपना आदर-भाव प्रकट करने के लिए मेरे पास शब्द-भण्डार का अभाव है। हृदय में भाव हैं, अनुराग है, उद्गार हैं, परन्तु उनके प्रकाशित करने की शक्ति नहीं है। एक बात और है कि जितनी सरलता से आप अपने भाव प्रकट कर देती हैं उतनी सरलता से मैं नहीं कर सकता। मैंने कभी आपके सम्मुख बात भी नहीं की है। हाँ, मेरे प्रति अनुरागातिरेक के कारण जब आप कभी रो पड़ी हैं तब मुझे भी रोना आ गया है। परन्तु मैं इस

प्रकार के रोने को स्त्री-गुण ही समझता हूं। आपके प्रति अपने प्रेम-भाव प्रकट करते मुझे लज्जा आती है। आप मेरी माता हैं। आप इस पत्र को अवश्य पढ़ेंगी, यह स्मरण करके ही मुझे लज्जा और सङ्कोच आ जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि अपने भाव लिखना आपके प्रति अपने आदर-भावों को सीमित करना है।

लज्जा की मात्रा प्रत्येक स्त्री पुरुष में वर्तमान रहती है और उसकी उपस्थिति आवश्यक भी है। इस भाव का न्यूनाधिक्य ही हानिकारक है। मुझमें यह प्रचुर परिमाण में विद्यमान है। कई अवसरों पर मुझे इस मनोभाव से युद्ध करना पड़ता है और बहुधा मुझे क्षति पहुँचती है। इस पत्र का लिखना भी एक महान युद्ध है। हृदय में अनुराग और श्रद्धा की लहरें उठती हैं परन्तु लज्जा की चट्टान पर ठोकर खाकर लौट जाती हैं। परन्तु वे अत्यन्त शक्तिशालिनी हैं। सम्भवतः उन्होंने चट्टानों को विदीर्ण भी कर दिया है। इसी विजय के उपलक्ष में यह पत्र लिखा जा रहा। अब मैं आपका स्नेह-पत्र सम्मुख रखकर एक एक बात का उत्तर लिखूँगा। यदि कहीं कुछ अनुचित लिख जाऊँ जिससे आपके हृदय में ठेस पहुँचे तो अपने स्नेह-भाव के अतिरेक से क्षमा कीजिएगा। मुझे आपने कालेज

में भरती करा दिया है। मैं तर्क-शास
मेरी इच्छा होती है कि हर बात
परीक्षा करूं और तार्किक उत्तर लि
हूं कि आपके प्रेम के प्रति यह अन्या
कभी मैं अपनी इच्छा के विरुद्ध उत्तर
यह भूल कर जाऊंगा।

आपने मेरा लालन-पालन किया है
के पश्चात् से आप ही मेरी दूसरी जनन
जानता हूं कि संसार में आपसे अधिक
नहीं करता। मेरे भाई बहन स्त्री सम्भव
से अधिक किसी का प्रेम नहीं है। मेरा
होगा, यह मैं नहीं समझता। हां, आपका
बहुत उज्ज्वल है। इसी से कुछ सन्तोष है
प्रेम करती हैं उसका उपयुक्त प्रत्युत्तर न
दुःख होता है। जिस बालक को आपने
पढ़ाया है उसको सर्वदा अपने नेत्रों के निक
भावना आप में अवश्य उत्कट है। मेरी उपेक्ष
आपको इस वृद्धावस्था में जो कष्ट होता है
का शरीर क्षीण हो जायगा। आपने यह भी

कि आपके जीवन पर आ जाती है। मेरी यह उपेक्षा-आपके इस प्रेम की घातक है। परन्तु आप तो अपने जीवन-विनाश के लिए भी प्रस्तुत हो जाती हैं। आपने यह भी लिखा कि जिस माता के प्रेम में अपनी सन्तति को आकृष्ट करने का बल नहीं वह प्रेम-मातृ प्रेम नहीं है, अतएव आप अपने को दोषी ठहराकर दशरथ जी का प्रमाण देती हैं कि उन्होंने अपने प्राण प्रेम परिपक्वता के लिए परित्याग कर दिया और दूसरे जन्म में फिर अपने प्रिय पुत्र रामचन्द्र का सान्निध्य प्राप्त किया। परन्तु आप यह भूल जाती हैं कि आत्महत्या करने वाले को नरक मिलता है।

पर उपदेश कुशल बहुतेरे, जे आचरहिं ते नर न घनेरे।

परन्तु यहां यह भी बात नहीं है। यह बात नितान्त भ्रममूलक है कि मैं आपके मातृ-स्नेह का आदर करना नहीं जानता। अथवा स्नेह का प्रत्युत्तर नहीं देता। यह बात दूसरी है कि मेरे ऐसे दुनियां के झन्झटों में फँसा व्यक्ति अपने प्रेम को उपयुक्त मात्रा में प्रदर्शन न करा सके और हास्यरस की प्रधानता होने के कारण उसका रूप विकृत करदे। परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं हो सकता कि मैं हृदयशून्य हूं या अपनी पूजनीया

माता से प्रेम करना नहीं जानता। कुछ पटु मनुष्य हृदय तंत्री को बजाकर सुनने वालों को मुग्धकर लेते हैं। परन्तु कुछ आत्म-निग्रही प्रेमी जनों की प्रेम-तंत्री का तार शिथिल होने के कारण लोगों को स्वर का आरोह-अवरोह कर्ण गोचर नहीं होता। इसी से विह्वल होकर श्रोता चिल्ला उठते हैं, 'कुछ नहीं समय नष्ट हुआ' और उठकर चल देते हैं। यह मनोविज्ञान साधारण लोगों के लिए क्षम्य है, परन्तु माता जी, आप तो विदुषी हैं।

मैं यह कभी अस्वीकार नहीं करता हूँ कि मैं आप का पुत्र नहीं हूँ। परन्तु आपके उदरजन्मा दो पुत्र और हैं उनके प्रति भी आपका कर्तव्य है। वे आपको अत्यन्त प्रेम करते हैं। उनका तनिक भी ध्यान न करके मेरे कारण आप अपना जीवन परित्याग करने को सन्नद्ध हो जाती हैं। क्या यही आपका उनके प्रति कर्तव्य है?

मुझमें त्रुटियाँ देखकर भी आप मुझे आशीर्वाद देती हैं। मेरी उपेक्षा की वेदना की आहों में भी आप आशिष् की झड़ी बाँध देती हैं। मुझसे अत्यन्त दुखी होकर भी मुझे दीर्घायु होने की शुभकामना प्रकट करती हैं।

मैं आपसे झुँझला भी जाता हूँ परन्तु आप क्रोध नहीं करतीं। हाँ, दुःख चाहे अवश्य होता हो। मैं आप

के इन सब गुणों का भक्त हूँ। आपने जो उपकार मुझ पर किये हैं, उनको मैं आमरण स्मरण रखूँगा। परन्तु कभी कभी आपके स्नेह के कुछ निषेध खटक जाते हैं। मैं एक महीने में कलकत्ते से कानपुर अवश्य आ जाऊँगा। परन्तु आप वहां मेरी स्वतंत्रता में बाधा डालेंगी। आप रात्रि तक मित्रों में मेरा घूमना पसन्द नहीं करतीं। आप चाहती हैं, कि मैं अधिक समय घर पर ही बिताऊँ। आप चाहती हैं, कि घर की चहारदीवारी में ही मैं बन्द रहूँ। आप उन मित्रों से क्रोधित हो जाती हैं, जिनके साथ मैं अधिक समय व्यतीत करता हूँ। आप उनके प्रति एक प्रकार का डाह उत्पन्न कर लेती हैं। मैं यह नहीं चाहता। इसी लिए मुझे आपके यहां आना अखर जाता है। आपके यहां मैं जितना समय व्यतीत करूं, उसी से आपको सन्तोष करना चाहिए। मैं अब बड़ा हूँ, अतएव आपको अब अपना मोह दौर्बल्य कम करना चाहिए।

एक बात की और मुझे आपत्ति है। आप कभी मेरी आर्थिक दशा पर दया और सहानुभूति करती हैं। इसके लिए मैं आपका कृतज्ञ हूँ। परन्तु जो आप समय समय मुझे कुछ आर्थिक सहायता देने लगती हैं, यह मुझे न चाहिए। भारतवर्ष में बहुत ऐसे स्थान हैं जहां आप

अपनी उदारता का परिचय दे सकती हैं। मुझे मेरे भ
व्यय करने को पर्याप्त धन देते हैं । अपने अन्ति
पत्र के साथ आपने लगभग १०००) रु० के आभूष
उतार कर पारसल द्वारा मुझे भेजे हैं। आपके कथन
नुसार इस समय आपके पास इतनी ही सम्पत्ति है
और प्राणत्याग के पश्चात् आप उसे मुझे समर्प
करना चाहती हैं। मैं उन्हें आपको वापस करता हूँ
मुझे ये न चाहिए। मुझे जो कुछ चाहिए, उसका विव
रण आपको मेरी डायरी के अवतरित भावों से लगेगा
मैंने एक पहाड़ पर बड़ी ही दुःख की अवस्था में इन
भावों को लेखनीबद्ध किया था:—"हे भगवन् ! मेरी
प्रार्थना सुनिए ! मैं कुबेर का धन नहीं चाहता। मुझे
जगत् के अस्थायी सुखों की भी वाञ्छा नहीं।.........
प्रसिद्धि और ख्याति उपलब्ध करने की भी मेरी इच्छा
अत्यन्त छोटी है। मैं केवल आवश्यक सुखों के साथ
जीवन निर्वाह करना चाहता हूँ। यदि ये घर में उपलब्ध
न हों, तो मैं उन्हें भी परित्याग करने को प्रस्तुत हूँ। भग-
वन्! ये केवल वाक्य ही नहीं हैं, इनमें सार और
तत्व है। तू सर्वव्यापी है। मैं केवल यह चाहता हूँ कि
सारी ...

शक्ति भर दे कि इस बलवती इच्छा को कार्य-रूप
परिणत कर सकूँ।"

पूज्या माता जी, अब आपको इन पंक्तियों से मे
जीवन का लक्ष्य मालूम हो गया होगा।

यह पत्र बहुत बढ़ गया है। अब मैं इसे समाप्त कर
हूँ। यदि इसमें कुछ अनुचित लिखा गया हो तो क्ष
कीजिएगा। मुझे इस संसार में आपकी बड़ी आवश्यक
है। आप यदि इस समय स्कूली शिक्षा देकर मुझे अ
बढ़ाने में अपने आपको असमर्थ पाती हैं तो और भी ब
बातें आपको सिखाना है। सबसे बड़ी बात तो यह है
मुझे पग-पग पर आशीर्वचन देकर मेरे ऊपर रक्षा
हाथ आपके बिना कौन रखेगा? अतएव प्रत्येक दशा
मुझे आपकी आवश्यकता है।

आपका स्नेही पुत्र,

रमेश

इस पत्र को आद्योपान्त पढ़ जाने तक भी
वृद्धमहिला के नेत्र न खुले। मैंने इसे पढ़कर
से उसके हाथों में दे दिया। शीघ्र ही मेरा ध्यान
महिला के अञ्चल की ओर गया। उसमें कुछ बँधा हु
था। मैंने अनायास उसे खोल लिया। इसमें

लिफाफा था; उसमें 'रमेश' का नाम और पता लिखा था और इसके भीतर एक पत्र था। लिफाफा अभी बन्द न था। मैंने झट पत्र को निकाल कर पढ़ना आरम्भ कर दिया:—

प्रेम मन्दिर,

कानपुर ५-१-१९२७

आयुष्मान प्रिय पुत्र रमेश,

तुम्हारा बड़ा सा पत्र मिला। सम्भवतः इतना बड़ा पत्र तुमने मुझे कभी नहीं लिखा। मुझे बड़ा हर्ष है कि तुमने इतना समय तो मेरे लिए व्यय करना उचित समझा। इस पत्र से तुम्हारे हृदय के भाव और मेरे प्रति तुम्हारे स्नेह का परिचय प्राप्त हुआ है। यह सुनकर कि तुम कानपुर आओगे, मैं अपने प्यारे रमेश के सिर को अपने उत्सङ्ग में रखकर अपने हाथों से जिमाऊँगी, चित्त की प्रसन्नता की सीमा नहीं रहती।

तुम में लज्जा की मात्रा है; मैं इसे तुम्हारा आभूषण समझती हूँ। परन्तु कहां पर और किसके प्रति इसका प्रयोग करना चाहिए, इस विषय में विवेक से काम न लेना खटकता है। तुम्हारे बहुत मित्र हैं, और होंगे, परन्तु मुझे भी उन्हीं की कोटि में रखकर, और अन्य सम्बन्धियों की भाँति समझने में मुझे दुख होता है। सम्भव है इससे

अधिक आशा करना मेरी दुर्बलता हो।

तुममें तर्क का प्रयोग बढ़ गया है। यह बड़ी प्रसन्नता की बात है। परन्तु प्रिय पुत्र, यह स्मरण रखना कि तर्क का प्रयोग ऐसे स्थान पर न होना चाहिए, जिससे किसी के चित्त को दुःख हो। हमारे शास्त्रों में शास्त्रार्थ करने में विपक्षियों के तीन प्रकार के मनोविज्ञान दिखलाये गये हैं। प्रथम प्रकार का शास्त्रार्थ यह है जिसमें शास्त्रार्थ करने वाले अपने विपक्षी पर विजय पाने के लिए किसी भी निन्दनीय व्यापार का आश्रय लेना ग्राह्य समझते। इस शास्त्रार्थ को शास्त्रों में 'वितण्डा' बतलाया गया है, और यह निन्द्य समझा जाता है। दूसरी कोटि के शास्त्रार्थ को 'जल्प' कहते हैं। शास्त्रों में इसका भी उल्लेख है। इसमें शास्त्रार्थ करने वाले केवल अपनी वाक्-पटुता और वाक्-व्यापार का परिचय देना ही मुख्य ध्येय समझते हैं। अन्वेषण करके तर्क को इस प्रकार तोड़ते-मरोड़ते हैं, कि अपनी बात सिद्ध कर सकें। इनका मुख्य विचार केवल यह रहता है कि वाक्-व्यापार में दूसरे को परास्त [illegible] भी निम्न कोटि का ही [illegible] के विद्यार्थी [illegible] व्यतीत करना

अपना ध्येय समझते हैं। परन्तु यह उनकी भूल है। तर्क का यह दुरुपयोग मात्र है।

तीसरे प्रकार का शास्त्रार्थ शास्त्रों में 'वाद' के नाम से प्रसिद्ध है। यह बड़े शुद्ध भाव से सत्यता के अन्वेषण के लिए किया जाता है। तर्क का आश्रय केवल इसलिए लिया जाता है कि विचार-प्रणाली में कोई दोष न आ जाय, जिससे सत्य के अनुसन्धान में कठिनता हो।

प्रिय पुत्र रमेश, सारे तर्क का मुख्य ध्येय इसी प्रकार का 'वाद' करने का होना चाहिए। मैं समझती हूँ कि तुम इस बात का ध्यान अवश्य रखोगे। तुमने अपने तर्क का व्यवहार मुझ अपढ़ के प्रति करने की धमकी क्यों दी है? यदि तुम यहां होते तो तुम्हारे गालों पर दो थप्पड़ लगाती और तुम्हारा तर्क भुला देती।

अब मैं अपनी शक्ति के अनुसार तुम्हारी बातों का उत्तर दूंगी। तुम्हारा पत्र मैंने कई बार पढ़ा। मुझे तो पूर्ण विश्वास था कि तुम इतने ही ऊँचे व्यक्ति हो जितना कि तुम्हारे पत्र से पता चलता है। तुम्हारा हृदय-गाम्भीर्य, विचार-सरसता, दैवी-उदारता तथा भाव-निर्दोषता और भी स्फुट रूप में पत्र से प्राप्त हो गयी। तुम भी एक कविता पूर्ण हृदय रखते हो, यह मुझे आज ही ज्ञात

हुआ। तुममें मेरे प्रति मातृ-प्रेम है यह मैं पहले से ही जानती थी। परन्तु जिस प्रेम-वीणा के तार के अस्फुट स्वर की चर्चा तुमने की है, उसी की शिकायत थी। यदि मैं पर्याप्त रूप में तुममें अपने प्रति मातृ-स्नेह उत्पन्न न कर सकी, तो इसमें मेरा ही दोष है। मेरे वात्सल्य-स्नेह-भाव में कुछ न्यूनता है। तभी तो पुत्र-प्रेम-तंत्री मेरे स्नेहाङ्गुलि से स्फुट रूप से निनादित नहीं होती। मेरी सारी तपस्या और युक्ति केवल उसी को स्फुट करने का प्रयास मात्र है। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि दशरथ की भाँति यदि मैं तुम जैसे पुत्र के कारण शरीर त्याग दूंगी तो मेरा अधिक कल्याण होगा। मैं अगले जन्म में फिर तुम्हारे ही घर में उत्पन्न हूंगी और ईश्वर से यह प्रार्थना करूँगी, कि वह मुझे अब की बार तुम्हारी पुत्री बनावे जिसमें तुम्हारा अनुराग मेरे प्रति कुछ विशेष हो और तुम सन्तति-प्रेम का महत्व अवगत कर सको और यह भी जान सको कि सन्तान की उपेक्षा से पिता-माता को कितना कष्ट होता है। तुम्हारी पुत्री रहकर मुझे भी फिर एक बार तुम्हारे ऊपर स्नेह स्थिर और दृढ़ रखने का अवकाश मिल सकेगा। मुझे पूरा विश्वास है कि इस शरीर-त्याग के पश्चात् ईश्वर अवश्य मेरी इस इच्छा की

पूर्ति करेगा। सूरदास का उपदेश है:—

"जहाँ स्मी है मगन राशी पहुंचे उत ही धाम,
जानु मन प्रेम करन की बान।"

यदि तुमको मातृ प्रेम करना आता ही न होता तो सम्भवतः मुझे इतना कष्ट न होता। तुमने मेरे सामने बहुत हँसा है। कई बार कूद-कूद कर मेरे उत्सङ्ग में बैठ गये हो। अपनी अव्यक्त वाणी से मुझे माँ माँ कहकर गले से लिपट गये हो। मेरे चूँमने से प्रसन्न हुए हो और अपना गाल मेरे निकट चूँमने को ले आये हो। मेरे कर्ण-विवर तुम्हारे मातृ-स्नेह के मधुर राग को स्फुट से स्फुट शब्दों में सुन चुके हैं। परन्तु उसमें कमी हो जाने से ही मुझे कष्ट होता है। तुम आयु में बड़े अवश्य हो गये हो इसी से सम्भवतः लजाते हो। परन्तु मेरे लिए तो वैसे ही छोटे बालक हो, जिसे मैं गोद में लेकर खिलाया करती थी। मैं केवल तुम्हारे मातृ-भाव के प्रेम-राग को स्फुट स्वर में स्थायी रूप से सुनते रहने की ही उत्सुक हूँ। सारा स्वर्ग-सुख मैं इसी पर उत्सर्ग कर सकती हूँ। इसी का अभाव मरण का आमंत्रण है।

तुम्हारे कथनानुसार मैं आत्म-हत्या करके अपने अन्य पुत्रों तथा अन्य सम्बन्धियों के साथ कर्तव्य पालन न

करूँगी, यह तुम्हारी भूल है। यदि तुम्हारे प्रति, एक ओर, मातृ-स्नेह बढ़ाने तथा उसे परिपक्व अवस्था तक पहुँचाने के लिए यह आवश्यक हो, कि मैं अपने इस पार्थिव शरीर का परित्याग करके दूसरे जन्म में सत्य स्नेह बढ़ाती रहूँ—जब तक तुम्हारी यह स्थिति न हो जाय कि तुम मेरी उपेक्षा न कर सको—और, दूसरी ओर, अन्य सम्बन्धियों के प्रति मेरा कर्त्तव्य यह कहता हो कि शरीर त्यागना पाप है, तो मेरी स्थिति क्या होनी चाहिए? जिससे मेरी आत्मा का विकास होता है, जिसको अपनी गोद में रखकर मैं स्वर्ग का सुख अनुभव करती हूँ, उसका परित्याग मैं कैसे कर सकती हूँ। सहस्रों सन्ततियाँ उस पर उत्सर्ग हैं। सैकड़ों सम्बन्धी उसपर न्योछावर हैं। महाराज दशरथ के भी रामचन्द्र के अतिरिक्त और भी पुत्र थे। उनके भी प्यारी पत्नियाँ थीं। उनके भी राज का ठाट-बाट और प्रचुर धन-धान्य था; परन्तु शरीर-त्याग के समय क्या उन्होंने किसी प्रलोभन का ध्यान किया? क्या उत्तरा के रोने ने वीर अभिमन्यु को युद्ध में जाने से रोका था? शत्रु से मिलने पर लौकिक कलङ्क की आशङ्का ने क्या विभीषण के भक्ति-भाव की प्रेरणा को रोका था? क्या सम्बन्धियों के मोह ने अर्जुन को युद्ध करने से

ही कारण मैं जानबूझ कर तुम्हारे
मैं जानती हूँ कि तुम्हारे वे मित्र
तुम्हारा स्नेह नहीं करते और न सुख-दु
ही आवेंगे। एक बार तो ऊपर मका
आना तुमने इस लिए अस्वीकार कर दि
बड़ी कड़ी थी और उसी समय तुम अपने
मित्र के साथ, जो बुलाने आया था, फूल
बैठ गये। मेरे कहने से तुमने यह कहा कि
धूप नहीं लगती, परन्तु मेरे पास आने में
थी, इसी से कुछ दुख हुआ था। तुम्हारे द्वारा
प्रस्रोत के सहसा रोक देने से मेरी भावना प
है। मेरी आत्मा, जो प्रेम के विकास से ब
विश्व को व्याप्त करने के लिए कल्लोल करत
है, तुम्हारी उपेक्षा से उसका विकास रुक आता
व्यथा है। परन्तु यह विश्वास दिलाती हूँ कि
तमोगुणी नहीं हूँ कि तुम्हारे मित्रों से डाह करूँ
मेरे बालक के समान हैं। मैं मानव-समाज के
चाहने के लिए विश्व में पैदा नहीं हुई। मुझे केवल
इतना ही होता है कि तुम मुझे उतना भी अधिकार
देते जितना अपने मित्रों को देते हो। मेरी गोद में

र भी सिर रखना तुम अपमान समझते हो। मित्रों
के समक्ष तो सिर रखना दूर रहा, तुम मुझ से बोलते
भी नहीं हो। क्या मैं तुम्हारी माता नहीं हूँ ? तुम्हारे
पत्र में बड़ी उत्सुकता के साथ मैं देखा करती हूँ
कि तुमने अपने स्नेह में कोई परिवर्तन करने का
विचार तो नहीं किया। जिस प्रकार तुम मुझे माता
समझ कर मेरे विनोद में अपना विनोद मान कर घण्टों
मेरे पास बैठकर जिस पुत्र-स्नेह का परिचय प्रचुर मात्रा
में देते रहे हो उसमें अब कोई शिथिलता करने की बात
तो नहीं सोची? इसी पर मेरे भविष्य जीवन का सारा
प्रासाद आधारित है। अतएव, प्रासाद की रक्षा करना
अथवा उसे ढहा देना तुम्हारे ही ऊपर निर्भर है। इसका
उत्तर देना तुम्हें आवश्यक था। यद्यपि यह कल्पना मेरी
सन्देहात्मक बुद्धि को कलङ्कित करती है तथापि तुम्हें
इसका उत्तर देना आवश्यक था।

दूसरा घाव अधिक गम्भीर है। तुम्हारे वाक्यशल्यों
ने मुझे मर्माहित कर दिया है। तुमने लिखा है कि आपको
मेरी आर्थिक उदारता की आवश्यकता नहीं। संसार में
अन्य पीड़ितों के प्रति मैं उसका प्रदर्शन करूं। जिस
समय मेरा मन इन शब्दों के दुहराता है, अनायास आँसू

गिरने लगते हैं। मैं कौन धनी हूँ जो
दिखलाऊँ। संसार के पीड़ितों का स्मरण
असमर्थता पर मुझे लज्जित करना है। संसा
रता का कौन भूखा है? तुम्हारे भाई तुम्हें व्य
कौन नहीं जानता। मैंने तुम्हें धनहीन कब जा
में भी यह विचार नहीं आता कि मैं तुम्हारी
यता कर सकती हूँ। क्या मैं तुमसे प्रश्न कर स
मैंने तुम्हारे प्रति कौन उदारता दिखायी। पीने
खाने को पान दे देना क्या आर्थिक सहायता
लित है? यदि तुम बाहर से दो चार रुपये की
लाकर मुझे दो, जैसा कि बहुधा तुम करते हो,
यह आर्थिक सहायता हुई। ये कैसे पुत्र हैं जो मा
माँग-माँग कर व्यय किया करते हैं। कारण यही है
तुम मुझे दूसरी समझते हो। नहीं तो ऐसा छोटा वि
तुम्हें कैसे सूझता। यदि मेरे मातृ-प्रेम में परिपक्वता
बल होता तो तुम अपनी और मेरी वस्तुओं में अन्तर
समझने। मैं अपनी उदारता अन्यत्र प्रदर्शित करूँ, य
कैसी मर्मच्छेदी बात है। हे चिरञ्जीव रमेश, तुम जिस
वस्तु पर ठोकर लगाते हो, यह है ही क्या!
धन की

अस्वीकार कर रहे हो।

ख़ैर, मैं यह सबक़ सीख गयी कि किसी भी अपने काम में मेरे एक पैसे लगने को तुम अपमान समझते हो। अतएव मैं इसका भविष्य में ध्यान रखूँगी मुझे यह बात श्रेयस्कर नहीं जिससे तुम्हारा अपमान हो। परन्तु साथ ही साथ भगवान से प्रार्थना करूँगी कि वह तुम्हारे मनोभावों को ऐसा परिवर्त्तित कर दें कि तुम अपने और मेरे धन में कोई अन्तर न समझो।

मुझे तो यह आशा है कि तुम शीघ्र ही एक अच्छे विद्वान् और धनवान होगे। मैंने यह निश्चय किया था कि मैं अन्य आश्रयों को छोड़कर तुम्हारी ही रोटी पर आश्रित रहूँगी! न मालूम क्यों मुझे अपने लिए यह एक गौरव की बात मालूम होती है। परन्तु आर्थिक सहायता सम्बन्धी तुम्हारी इन बातों ने मेरी अभिलाषा का मार्ग ही बन्द कर दिया। अब भविष्य में मुझे काहे को यह साहस होगा कि मैं तुम्हारी आश्रिता होकर रहने की भावना को तुमसे प्रकट कर सकूँ। जब तुम मेरी छोटी छोटी स्नेह भेंट में अपना अपमान समझते हो तो इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि मैं किसी प्रकार की आशा तुमसे न रखूँ।

मैंने जो १०००) रुपये के अपने आभूषण तुम्हारे पास भेजे थे, उन्हें वापस करते, हुए तुमने जो कुछ लिखा है यह भी अनर्गल है। मैंने तुम्हें यह सम्पत्ति इस लिए नहीं भेजी थी कि तुम्हें उसकी आवश्यकता थी। और न इस लिए कि उससे तुम्हारा कोई यथार्थ लाभ हो सकता है। मैं यह जानती हूँ कि यह तुम्हारे पाँच महीने का भी व्यय नहीं है। परन्तु यह भावना ही दूसरी थी जिससे प्रेरित होकर यह आभूषण तुम्हें भेजे गये थे। यदि ईश्वर ने तुम्हें दस करोड़ रुपये दिये होते तो भी यह धन तुम्हारे ही पास आता। तब भी तुम्हें इससे कोई अपमान न मानना चाहिए था। ईश्वर सब लोगों को देता है और सभी अपने रूखे-सूखे भोजनों से उसका भोग लगाते हैं। क्या इससे उसका अपमान होता है? ईसू मसीह ने उस निर्धन महिला के दान को सबसे उच्च स्थान दिया था, जिसने सबसे कम दान दिया था, परन्तु जो कुछ था सब दे दिया था। बस ठीक इसी भावना से ये आभूषण तुम्हारे पास भेजे गये थे। ख़ैर, यदि तुम उनका मूल्य नहीं समझे तो जाने दो। मेरी असावधानी से वह पत्र रह गया जो मैंने इन आभूषणों के साथ भेजा था। जिस समय मैंने यह निश्चय

कर लिया था, कि अब एक क्षण भी जीवित नहीं रहना चाहती; उसी क्षण और उसी मनोभाव में वह पत्र भी लिखा गया था और आभूषण भी भेजे गये थे। परन्तु एकाएक तुम्हारा पत्र आ जाने से मैंने अपना विचार स्थगित कर दिया है। परन्तु उस पत्र का कुछ अवतरण नीचे देती हूँ जिससे तुम मेरा मन्तव्य अधिक स्पष्टता से समझ लो।

प्रेम मन्दिर,

कानपुर ३-५-१९२७,

आयुष्मान् प्रिय पुत्र रमेश,

सतशारदायुष्मान् भव। यह अन्तिम पत्र है। साथ में मेरे आभूषण हैं इन्हें विक्रय कर लेना। सम्भवतः १०००) रुपये आवेंगे। इन रुपयों से मेरी पुत्र-वधू को दो सुन्दर साड़ियाँ लेकर मेरी ओर से भेंट कर देना। जब मेरी पुत्र-वधू को उन्हें पहने देखोगे तो तुम्हें मेरा स्मरण अवश्य आ जावेगा। मुझे इसी में सुख है कि मेरी किसी वस्तु का तुम या तुम्हारी पत्नी प्रयोग तो करेगी। बस, इन्हीं शब्दों के साथ सर्वदा के लिए अन्तिम विदा चाहती हूँ। केवल दो दिनों तक ज्येष्ठ पुत्र के आने की प्रतीक्षा करूँगी। अभी कोई घर पर नहीं है। मैं अपने कारण किसी को

दुःख में नहीं डालना चाहती।

अधिक आशीष,

हतहृदया—माँ

इन शब्दों से तुम्हें स्पष्ट हो गया होगा कि इन आभूषणों के भेजने से मेरा क्या अभिप्राय था। जिस प्रकार के भाव तुमने उत्तर में व्यक्त किये हैं, वे न तो तुम्हारे उपयुक्त हैं और न तुम्हें शोभा देते हैं। तुम इसे समझते होगे, ऐसी मेरी धारणा थी। फिर इस प्रकार के हृदय को आहत करने वाले भाव तुमने न मालूम क्यों लिखे। हाँ, यदि मुझे झूठ भी मालूम हो जाय कि तुम्हें धन की आवश्यकता है तो मैं आकाश पाताल एक करके अपना सर्वस्व निछावर करके तुम्हारे लिए उसका प्रबन्ध करूँ। परन्तु यहाँ तो यह भावना तनिक भी न थी। मेरी तो केवल यह इच्छा थी कि मैंने तो तुम्हारा पालन-पोषण करने में अपना शरीर अर्पण कर दिया है, मन भी सर्वदा तुम्हारे पास ही रहता है—सर्वदा यही विचार होता है कि मेरा रमेश इस समय कैसा होगा—अब रहा केवल धन, वह भी जो कुछ है तुम्हारे ही पास जाना चाहिए था। बस इतनी ही बात है। ख़ैर, जाने दो। अब तुम्हें दुःख देने वाला कोई काम न करूँगी। बेटा, कानपुर

दीर्घ आना।

कोटिशः आशीर्वाद,

दुखिता—माँ

इस पत्र को भी समाप्त करके मैंने उसे अञ्चल में बाँध दिया। इतने में एक व्यक्ति निकट आ गया। वह मुझसे पूछने लगा कि क्या माता जी निसंग हैं। मैंने कहा, हाँ। वह एक पात्र में निकटवर्ती जलाशय से जल ले आया और निकट बैठ गया। पूछने से ज्ञात हुआ कि यह उस महिला का आत्मज है। मेरी ओर देखते देखते उसके नेत्रों से अश्रु बिन्दु पृथ्वी पर गिर पड़े। मैंने उसके दुःख का कारण कई बार पूछा। दोनों पत्रों के पढ़ने के पश्चात् चित्त में अनेक तर्क-वितर्क उठ रहे थे। घटना का पूरा पूरा क्रम-बद्ध पता अभी मुझे न लग सका था। बार बार आग्रह करने से मुझसे इस व्यक्ति ने केवल इतना ही कहा, 'नहीं मुझे कोई कष्ट नहीं है'। मैंने कहा, "नहीं ऐसा नहीं हो सकता आपकी अविरल अश्रुधारा यह प्रकट करती है कि कोई बात अवश्य है—

रहिमन अँसुआँ नैन ढरि, जिय दुख प्रकट करेइ।
जाहि निकारो गेह से, कस न भेद कहि देइ।

यह छन्द सुनकर वह वेग से रोने लगा। मैंने उसे

सान्त्वना दी। मेरे आग्रह करने से उसने बतलाया कि वह कानपुर सनातन धर्म कालेज के सेकेन्ड इयर सीढ़ी का विद्यार्थी है। माता इसे 'गौरी' 'गौरी' कह कर पुकारती है। यह माता को बहुत प्रेम करता है और उसका सबसे छोटा पुत्र है। रमेश और इसने साथ ही साथ इन्ट्रेन्स परीक्षा पास की थी। इन दोनों बालकों से भी बड़ी मित्रता है। गौरी भी रमेश के साथ अधिक प्रेम रखता है। गौरी ने अपने रोने का कारण केवल यह बतलाया कि उसे माता के स्वास्थ्य का बहुत क्षोभ है। वे बहुत कृश-कलेवर हो गयी हैं और सम्भव है, उनकी मृत्यु भी शीघ्र ही हो जाय। मैंने पूछा कि यह तो कहिए कि क्या रमेश इनका दत्तक पुत्र है। उसने उत्तर दिया कि दत्तक पुत्र ही नहीं पर वह अपने पुत्र से कहीं अधिक उस पर प्रेम करती हैं। उन्हें संसार में उसके अतिरिक्त किसी की भी परवाह नहीं। मुझे वह रमेश का आधा भी प्यार नहीं करतीं। रमेश को अपने हाथों से खिलाया और पढ़ाया है। उसको इतना योग्य बनाने में उनका बहुत कुछ हाथ है। रमेश के माता-पिता कोई नहीं हैं, अतएव उनको और भी उसकी चिन्ता रहती है। वह उसी की चिन्ता में सर्वदा लगी रहती हैं। मैंने पूछा कि क्या रमेश बड़ा कठोर हृदय

है। इस पर गौरी ने उत्तर दिया कि नहीं ऐसी बात नहीं है। यह बड़ा सरल हृदय है। यह भी माता से प्रेम करता है। परन्तु बालक तथा शर्मीला होने के कारण, आत्माभिमानी होने से यह कभी कभी बड़ी निर्दय उपेक्षा माता के प्रति करता है, इसी से ये क्षुब्ध हो जाती हैं।

इस पर मैंने कहा कि रमेश को अब बुलाकर समझाना चाहिए, नहीं तो माता जी का सम्भवतः शरीर ही नाश हो जायगा।

इतने में गौरी ने माता के मुख पर थोड़ा जल डाला। परन्तु दाँत बँधे रहने के कारण उन्होंने उसे स्वीकार न किया। नाड़ी देखने से ज्ञात हुआ कि उसकी गति अत्यन्त मन्द है। गौरी बहुत घबड़ाया। वह चिल्लाकर रो उठा। मुझसे कहने लगा कि मैं घर जाकर बड़े भाई को ले आता हूँ आप यहीं रहिए। इतना कहकर उसने एक बार फिर मुँह में पानी डाला। पानी भीतर न जा सका। फिर गौरी रो उठा और कहने लगा, 'रे दुष्ट रमेश तूने माता के प्राण ले लिये। क्या इसी लिए तुझे उसने अपनाया था?' रमेश का नाम सुनते ही वृद्ध महिला उठ बैठी और कहने लगी, "कौन है, रमेश!" गौरी दूसरी

ओर देख रहा था और क्रोध से फिर रमेश के प्रति
शब्द दोहरा रहा था। उन्हें सुनकर वृद्ध माता ने बड़े
स्वर से कहा, यह कौन मेरे प्रिय आयुष्मान् रमेश के
शब्द कह रहा है। मेरी आँखों से हट जा। मैं रमेश
निन्दा स्वप्न में भी सुनना नहीं चाहती। वह मेरा प्या
बेटा है। सर्व श्रेष्ठ बेटा है। संसार का एक बड़ा मा
व्यक्ति है, मेरी लहलहाती हुई आशा है। वह सर्वोत्त
है। वह भगवान है। उसे कोई मेरे सामने कुछ नहीं क
सकता। इन शब्दों को सुनकर गौरी लज्जित हो गया
उसने नत मस्तक होकर कहा 'माँ मुझे क्षमा करो'
तुम्हारा दुःख मुझसे देखा नहीं जाता। मैं रमेश के स्व
प्रेम करता हूँ। मैं उसका अहित कैसे विचार सकत
हूँ। अब यदि आप स्वस्थ हों तो घर चलिए। लगभग
रात्रि के १२ बज गये हैं।

उस वृद्ध महिला ने मेरा भी परिचय प्राप्त किया।
मैंने उत्सुकता के साथ कहा—माता, मुझे आप क्या
इतना प्यार कर सकती हैं? आपके प्रेम से मेरा कल्याण
होगा। रमेश की भाँति मैं भी उन्नति कर जाऊँगा। कल
प्रातःकाल आपके दर्शन करूँगा। मैंने गौरी से आपका
निवास स्थान जान लिया है। मेरी बातों के उत्तर में

महिला ने केवल इतना ही कहा—अवश्य आइएगा और गौरी के कन्धों पर हाथ रखकर उठकर चली गयीं।

मैंने यह सोचा कि यदि यह अपना पुत्र-स्नेह मेरे ऊपर केन्द्रीभूत कर दे, तो दोनों का उपकार हो। मैं उन्नति कर सकूँगा और इसे भी दुख न होगा, क्योंकि मैं इसके प्रति कभी रमेश की भाँति उपेक्षा न करूँगा।

रात्रि अधिक हो गयी थी। इसी विचार-धारा में निमग्न मैं निद्राक्रान्त हो गया। प्रातःकाल पाँच बजे नेत्र खुले। मैंने इधर-उधर देखा, परन्तु कोई न था। शीघ्र ही दो नवयुवक देव-मन्दिर की ओर आते दिखायी दिये। वे दोनों आकर मुझसे थोड़ी दूर पर बैठ गये। बड़ी आयु वाला व्यक्ति बात करना चाहता था, परन्तु छोटा उसकी उपेक्षा करता था। दोनों चबूतरे पर ही लेट गये। बड़े की ओर छोटा पीठ किये था। बड़े ने कहा, भाई इधर मुँह कर के लेटो। छोटे ने कुछ उत्तर न दिया। बड़े ने कई बार आग्रह किया तब उसने उसकी ओर मुँह फेरा। बड़ा उठकर बैठ गया और उसने अपने मित्र का सिर अपने उत्सङ्ग में रखना चाहा। परन्तु उसने उसका प्रतीकार किया। बहुत आग्रह करने पर उसने कहा कि उष्णता अधिक है। परन्तु बड़े ने बलात

सके सिर को अपनी गोद में रख लिया और उसके
सुन्दर कुन्तलों में अङ्गुल्य सञ्चार करने लगा। इतने में
से निद्रा सी मालूम हुई। बड़े ने कहा, 'क्यों रघुपतीश्वर,
सोने लगे, तुम्हें हमारे पास बहुत शीघ्रता से निद्रा आ
जाती है, अभी तो प्रातःकाल हुआ है'। उसने उत्तर दिया,
मुझसे बोलिए नहीं, मुझे सोने दीजिए।'' बड़े ने फिर
से जगाना चाहा। इतने में अत्यन्त क्रोधित होकर
रघुपतीश्वर चिल्ला उठा, 'मुझसे न बोलिए, मुझे सोने
दीजिए'। बड़े के वाक्यों में सरसता, मधुरता, कोमलता
और वात्सल्य भाव था। छोटे के उत्तरों में कठोरता,
उदासीनता, कर्कशता और अक्खड़पन था। बड़े के
वचन हृदय-द्रावक थे और छोटे के मर्मस्पर्शी। बड़े के
आचार-विचार में प्रेम का प्रस्रोत बहता था और छोटे
के व्यवहार में मर्मच्छेदी उदासीनता का अतिरेक था।

बड़े ने साहस करके कहा—क्या तुमको मेरे समीप
रहने में बुरा मालूम होता है? क्या पाँच वर्ष साथ व्यतीत
करने के बाद भी तुम मेरे साथ उतने अनावृत रूप से
नहीं रह सकते, जितने कि अपने नवीन मित्रों के साथ
रहते हो। उनके साथ तुम हँसते हो बोलते हो, खेलते-
कूदते हो, उनके कमर में हाथ डालकर घूमते हो, उनकी

गोद में सिर रखकर सो जाते हो; परन्तु मेरे प्रति तुम उतनी ही आर्द्रता क्यों अनुभव नहीं करते ? रघुपतीश्वर ने इसके उत्तर में धीरे से कहा, 'मैं यह जानता हूँ कि आपसे अधिक मुझे कोई प्रेम नहीं करता । और सम्भवतः आपसे अधिक कोई मेरा उपकारी भी न होगा। परन्तु यह नितान्त असम्भव है कि मैं आप के साथ उसी आनन्द से रह सकूँ जैसा कि औरों के साथ रह सकता हूँ । इसका कारण मैं नहीं जानता, आप ही विचारिए । इस पर दूसरे व्यक्ति ने कहा कि प्रिय भाई, मैं तुम्हें बहुत स्नेह करता हूँ। जब तुम कभी मेरे घर आने को कहते हो तो सैकड़ों बार मैं घर के बाहर आकर तुम्हारी प्रतीक्षा करता हूँ । बहुत बार मार्ग के मोड़ तक आकर तुम्हारी प्रतीक्षा करता हूँ। अनेक बार तुम्हारे घर के नीचे तक आकर घूम जाता हूँ। परन्तु इस भय से कि कहीं मेरा अनिमंत्रित आगमन तुम्हें अरुचिकर न हो, घूमकर ही लौट जाता हूँ। कई बार घर की छत की खिड़की से किसी भी व्यक्ति की आहट पाकर मेरा मन आल्हादित होकर तुम्हारे समक्ष उपस्थित होने की कल्पना कर उठता है। जब कभी तुमने वादा कर दिया है और नहीं आये हो, तो मेरे हृदय

पर जो प्रतिघात हुआ है वह वर्णनातीत है। तुम मेरे उत्सङ्ग में सिर रखे हो तो मुझे अत्यन्त सुख अनुभव हो रहा है। संसार की कोई ऐसी वस्तु नहीं जो कि मेरे निकट तुमसे अधिक मूल्य रखती हो; यह तुम जानते हो। यह भी तुम जानते हो कि मुझे तुम्हारी उन्नति का कितना ध्यान है। तुम भी हमारे हित-चिन्तक हो। अतएव क्या यह तुम्हारा परम कर्तव्य नहीं है कि मुझ में जो बातें ऐसी हों जिनके कारण तुम साथ हिल-मिलकर न रह सकते हों, मुझे बतला दो। मैं उन्हें दूर कर दूँगा।

इन बातों को सुनकर भी रघुपतीश्वर ने कोई उत्तर न दिया। बार-बार आग्रह करने पर उसने कहा—मुझे ये स्त्रैण बातें रुचिकर नहीं। आप स्वयं कारण सोच लीजिए।

इन शब्दों के वज्राघात से वह व्यक्ति वहीं लेट गया। नेत्रों में आँसू भर कर ठण्डी सांस लेते हुए गद्गद् स्वर में कहने लगा, कि भगवान तुम्हारा कल्याण करें। भगवान मुझे यह ज्ञान दें कि यह प्रेम मैं उसकी ओर प्रक्षिप्त कर सकूँ। यदि ऐसा हो जाय तो कदाचित् तुलसी और मीरा की भाँति मुझे भी मुक्ति मिल जाय; परन्तु मुझे तो ईश्वर का ध्यान भी नहीं आता। जब मैं बड़ी भक्ति से उसका ध्यान

करता हूँ तो तुम्हारा ध्यान आ जाता है। हमारे भगवान
हो तो तुम हो-ईश्वर—हो तो तुम हो। अतएव समझ
में नहीं आता, क्या करूँ ? कैसे तुमसे अपने प्रति अनुराग
उत्पन्न कराऊँ।

इतना कहकर दोनों मित्र शीघ्र ही सो गये। रघुपती-
श्वर का हाथ उसके मित्र ने अपने हृदय पर रख रखा
था। रघुपतीश्वर का सिर उसके उत्सङ्ग में था। थोड़ी
देर तक ये दोनों सोते रहे। घण्टे भर के बाद ये दोनों
अनायास उठे। रघुपतीश्वर आगे आगे और उसका मित्र
पीछे पीछे चला। रघुपतीश्वर चलते समय पीछे घूम
कर देखता भी न था। और उससे जब चार बातें उसका
मित्र पूछता था तो यह एक बात का उत्तर देता था।

देव-मन्दिर की क्रीड़ास्थली के ये अभिनेता अ
अभिनय करके चल दिये। दर्शकों में मैं केवल एकाकी
था। यह मर्मस्पर्शी नाटक देखता रहा। हृदय में रघुपती-
श्वर को पुनः पुनः धिक्कारा और यह सोचने लगा कि
यदि मुझे प्रेम करने वाला संसार में ऐसा कोई होता तो
मैं तो अपना सारा जीवन उस पर उत्सर्ग कर देता।

शीघ्र ही देव-मन्दिर से मैं नीचे उतरा। निकट के
अर्द्ध-शुष्क जलाशय में पुरीष-आहारी पशु आनन्द से लोट

रहे थे । मैं ग्राम की ओर चल दिया। ग्राम में
करते ही निकट के एक भवन से करुण क्रन्दन की
महान तुमुल ध्वनि श्रवणगोचर हुई। उसके द्वारा
होकर मैं उसी भवन में जा पहुँचा। मुझे ज्ञात हुआ
एक षोडस वर्षीय बालक की अचानक मृत्यु हो जाने
कारण उसके माता-पिता और अन्य निकटवर्ती सम
बड़े वेग से क्रन्दन कर रहे हैं । अपनी माता-पिता
वह एकाकी पुत्र था। उनके करुण क्रन्दन से
विदीर्ण हो रहा था । अनायास ही मेरे भी अश्रु
उद्गमित हो निकली। थोड़ी देर बैठा बैठा मैं यह
देखता रहा। अन्त में मृत बालक का शव लेकर
उसके सम्बन्धी वहाँ से चल दिये तो मैं और आगे ब
दाहिनी ओर मैंने एक कौवे के मृत-शावक को पृथ्वी
पड़ा हुआ देखा। उसे किसी शिकारी पक्षी ने प
लिया था। परन्तु किसी कारण वश वह उसके पञ्जे
निकल कर पृथ्वी पर गिर पड़ा था। उसके चारों
मण्डलाकार वायस-समूह एक महान चीत्कार मचा
था। इस मृत-शावक से भी उनको इतना प्रेम था कि
किसी ओर ध्यान न करके महान रव कर रहे थे। ऐ
प्रतीत होता था कि ये यमराज के द्वार पर सत्या

करना चाहते हैं और सब सामूहिक रूप से उसके घर
प्रवेश कर जाना चाहते हैं । परन्तु इनके पूर्वज का
भुसुण्ड जी के भक्तिभाव से भयभीत होकर इनके प्र
यमराज को अनायास ही करुणा प्रदर्शित करनी पड़
है। इस दृश्य से भी हृदय द्रवीभूत हो आया। थोड़ी
तक निर्निमेष होकर यह दृश्य देखता रहा।

फिर और आगे बढ़ा। सामने वृक्ष पर एक मर्क
अपने मृत-बालक को बलात् एक कर से ग्रहण किये धी
धीरे एक डाल से दूसरी डाल पर कूद रही थी। उस
दृष्टि से, उसकी चाल से, शोक-ग्रस्तता झलकती थ
इस मृत बालक से भी इसे उतना अनुराग था। जित
कि सम्भवतः मानव-समाज अपने जीवित बालक से
न करता होगा। इसकी दशा पर मुझे दया आ गयी।
यह सोचने लगा कि भगवान यदि मुझमें कोई ऐ
दैवी शक्ति देता कि जिससे मैं जीव-सञ्चार कर सक
तो मैंने इस वानर के मृत बच्चे को तुरन्त जीवित
दिया होता।

आगे चल कर मुझे एक ऐसा ही दृश्य और दे
को मिला। एक अहीर अपनी गाय दुह रहा था।
के मुँह के पास एक मनुष्य खाल में भूसा भरा हुआ

का बच्चा लिये हुए था। पूछने से ज्ञात हुआ कि यह उसी गाय का बच्चा है। अभी थोड़े ही दिन हुए यह मर गया है। गाय इसको इतने चाव से चाहती थी कि मानो यह जीवित सा उसका बच्चा है। मुझे पशु की इस मूर्खता पर करुण आ गयी और वात्सल्य प्रेम के इस प्रदर्शन को देखकर हृदय की प्रेम भावना उमड़ आयी। सहानुभूति के आँसू निकल पड़े। मैं प्रेम की भूरि भूरि प्रशंसा करने लगा। मुझे उसी क्षण दक्षिण के प्रसिद्ध सन्त तरुवल्लुवर के उक्तियां प्रेम के सम्बन्ध में स्मरण हो आयीं। आपने प्रेम के विषय में कहा हैः—

(१) "ऐसा डेरा अथवा डंडा कहां है जो प्रेम के दरवाज़े को बन्द कर सके? प्रेमियों की आँखों के सुललित अश्रुबिन्दु अवश्य ही उसकी उपस्थित की घोषणा किये बिना नहीं रहते।

(२) "जो प्रेम नहीं करते हैं वह केवल अपने ही लिए जीते हैं परन्तु वे जो दूसरों से प्रेम करते हैं उनकी हड्डियां भी दूसरों के काम आती हैं।

(३) "कहते हैं कि प्रेम का आनन्द लेने के लिए ही आत्मा एक बार फिर अस्थि पिञ्जर में बन्दी होने के लिए प्रस्तुत हुआ है।

(४) "प्रेम से हृदय स्निग्ध हो उठता है और उस स्नेह-शीलता से ही मित्रता रूपी बहुमूल्य रत्न पैदा होता है।

(५) "लोगों का कहना है कि भाग्यशाली का सौभाग्य—इस लोक और परलोक दोनों स्थानों में—उसके निरन्तर प्रेम का ही पारितोषिक है।

(६) "वे मूर्ख हैं जो कहते हैं कि प्रेम केवल नेक मनुष्यों ही के लिए है; क्योंकि बुरों के विरुद्ध खड़े होने के लिए भी प्रेम ही मनुष्य का एक मात्र साथी है।

(७) "देखो अस्थिहीन कीड़े को सूर्य किस प्रकार भस्म कर देता है। ठीक उसी प्रकार नेकी उस मनुष्य को जला डालती है जो प्रेम नहीं करते हैं।

(८) "जो मनुष्य प्रेम नहीं करता है वह तभी फूले फलेगा जब मरु भूमि के सूखे हुए वृक्ष के ठुण्ठ में कोपलें निकलेंगी।

(९) "बाह्य सौन्दर्य किस काम का जब कि प्रेम, जो आत्मा का भूषण है, हृदय में न हो।

(१०) "प्रेम जीवन का प्राण है। जिसमें प्रेम नहीं वह केवल माँस से घिरी हुई हड्डियों का ढेर है।"

प्रेम के ऊपर इन सूक्तियों पर विचार करता मैं मस्त

सा हो गया। सारा संसार प्रेममय दीखने लगा। मैं यह सोचने लगा कि माता-पिता, स्त्री-पुरुष, बालक-वृद्ध सभी से प्रेम करना चाहिए। इन्हीं के प्रेम में मस्त रहना ही हमारा पुनीत कर्तव्य है। इसी विचार-धारा में प्रवाहित होकर मैं सूरदास का एक पद उच्च स्वर से गाने लगा और गाते-गाते आगे बढ़ा। वह पद यह था:—

जानु मन प्रेम करन की बान,
कहा भयो जो पिउ नहि रीझत,
राखहु उतही ध्यान,
पिउ कारन सब घर बन त्यागहु,
प्रीति न होवे म्लान,
इतनेहु मा जो पिउ नहि रीझत,
त्यागहु प्रान सम मान,
जहाँ लगी है लगन रावरी,
उतही पइहौ धाम,
तबहि आस प्रियतम पुरवैगो,
काहे करत गुमान,
सूरस्याम प्रियतम रूसैगो,
निठि करिहै कल्यान।

ज्योंही मैंने अन्तिम चरण समाप्त किया त्योंही निकट

वहाँ एक देव-मन्दिर से मेरा अवधूत शिष्य निकला और यह भी मेरे राग में राग मिला कर उच्च स्वर से गाने लगा-

आजु मन प्रेम करन की बात

हम लोगों ने एक बार फिर उच्च स्वर से इस राग को दुहराया। हम दोनों व्यक्ति गाने में तल्लीन हो गये। देह की सुध-बुध सी भूल गयी। थोड़ी देर के पश्चात् अवधूत बोल उठा, "वाह गुरु जी, कितना सुन्दर गायन आपने सुनाया। इसमें जीवन का सारा रहस्य छिपा हुआ है। धन्य हैं आप।"

इस पर मैंने उससे पूछा कि भाई उस दिन सोते छोड़ कर कहाँ भाग गये थे। उसने मेरी बात को टालकर कहा, सोने वाले के पास कौन बैठता है? परन्तु यह ता बतलाइए कि आपने यह गायन कहाँ सीखा। इस पर मैंने उत्तर दिया "भाई यह न पूछो। मैंने इधर थोड़े दिनों से यह अनुभव किया है कि वास्तव में संसार में सब से प्रेम करना ही जीवन का ध्येय है। (इसके बाद मैंने सन्तवर तरुवरवुवर की सूक्तियाँ भी सुना दीं।) और यह भी कहा कि मैंने निश्चय किया है कि जो मिलेगा उसी से मोह करूँगा और उसी के साथ जीवन निर्वाह करूँगा। परन्तु हाँ, जिससे प्रेम करो उसके मर जाने से या उसकी उदासीनता से

बड़ा कष्ट होता है। इसकी क्या ओषधि है?

यह बोल उठा गुरु जी, आपने तो सन्तों के प्रेम के सम्बन्ध में एक बहुत सुन्दर व्याख्यान सुना था, फिर आपको भ्रम क्या है, इसको समझने में क्यों कठिनाइयाँ होती हैं। गुरुवर मोह दूसरी बात है, प्रेम एक दूसरी बात। प्रत्येक जीव के मोह में फँसने से कष्ट अवश्य होता है। यह कोई प्रेम का वास्तविक स्वरूप थोड़े ही है। प्रेम तो केवल एक से ही हो सकता है। देखिए, मैं एक प्रेम-दिवाने कवि के कुछ हृदयोद्गार आपके सामने रखता हूँ। यह मानवीय होते हुए भी दैवी है। इसमें सत्यता और निष्ठा है; योग और मोक्ष है। आप प्रेम के उच्चतम सिद्धान्तों की वस्तुतः ठीक प्रशंसा करते हैं, परन्तु उनका सन्निवेश सांसारिक मोह में करना ठीक नहीं। मोह और प्रेम में जो कुछ वाह्य सादृश्य दृष्टिगोचर होता है वह केवल वास्तविक सादृश्य नहीं। वास्तव में दोनों में आकाश पाताल का अन्तर है। अतएव हे भगवन् मिथ्या सांसारिक मोह को ही कहीं प्रेम न समझ बैठिएगा। मोह वह वस्तु है जिसने पाण्डव शिरोमणि अर्जुन के मस्तिष्क को महा भारत के युद्ध के समय आच्छादित कर दिया था। जिससे अर्जुन को बचाने के लिए कृष्ण भगवान् को

सारी गीता का उपदेश करना पड़ा। अर्जुन को अपने सम्बन्धियों के प्रति जो मोह था उसका प्रश्रोत एकाएक उमड़ पड़ा, जब उसने यह देखा कि मुझे इनका विनाश करना पड़ेगा।

इस पर मुझे गीता के सम्बन्ध में जो शङ्काएं थीं उनका स्मरण हो आया। मैंने जब जब गीता सुनी और पढ़ी थी तब तब मुझे यही प्रतीत हुआ था कि कृष्ण ने अर्जुन को ख़ूब टाला। उनको उन्होंने वास्तव में तर्क-सङ्गत उत्तर ही नहीं दिये थे। यही बात मैंने अवधूत से कह डाली। मैंने कहा कि कृष्ण ने अर्जुन की दलीलों के जो उत्तर उनके मोह का छोड़ने के लिए दिये हैं, उनमें टाल-मटोल की गयी है।

इस पर अवधूत ने कहा, 'गुरु जी, कुछ मुझे भी बतलाइये, कहां पर कृष्ण जी ने टाल-मटोल करने की चेष्टा की है।'

मैंने कहा, भला आपही बतलाइए कि अर्जुन बिचारा तो युद्ध की बुराइयों का दिग्दर्शन करा रहा था। वह यह कह रहा था कि गुरुजनों की हत्या करने से पाप होता है। वह यह कह रहा था कि कुलक्षय से वर्णसङ्करता उत्पन्न होती हैं। उसके तर्कों का उत्तर न देकर आप उसे एक

बालक की तरह डाँट कर कहने लगते हैं:—

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यम (कीर्ति करमर्जुन ॥
क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदय) दौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप ॥

इसीलिए तो अर्जुन को सन्तोष नहीं हुआ। और वे फिर कहने लगेः—

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन ।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥
(गुरूनहत्वाहि महानुभावान् श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यम) पीह लोके ।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव, भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान् ॥
न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ।
यानेव हत्वा न जिजीविषामस्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥
कार्पण्य दोषोपहत स्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढ चेताः ।
यच्छ्रेयःस्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहंशाधिमांत्वांप्रपन्नम् ॥
नहि प्रपश्यामि ममापनुद्याद् यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥

परन्तु फिर भी क्या कृष्ण ने उपयुक्त उत्तर दिया। वे यों ही अनायास कहने लगेः—

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।

गतासूनगतासूश्चनानुशोचन्ति पण्डिताः ॥

अर्जुन सिपाही था। उसके मस्तिष्क में कृष्ण ऐसे दार्शनिक व्यक्ति से तर्क करने का सामर्थ्य न था। उन्होंने आत्मा और परमात्मा के झगड़ों में डाल कर उसे चका-चौंध कर दिया। उसने यह कह ही दिया था, "शिष्यस्ते ऽहं" बस फिर क्या था। बातें बनाकर कृष्ण जी ने उसे लड़वा ही तो दिया।

इस पर अवधूत ने कहा, "तो क्या कृष्ण जी ने आत्मा और परमात्मा के विषय में जो कुछ कहा है उसे आप ठीक नहीं समझते ?"

मैंने उत्तर दिया, 'नहीं, यह बात नहीं है कि मैं उसे ठीक नहीं समझता; परन्तु मेरे कहने का अभिप्राय यह है कि कृष्ण जी ने बहुत सी बातें यों ही कह डाली हैं। आप कहते हैं—

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृत निश्चयः ॥

परन्तु आपने यह नहीं सोचा कि अर्जुन ने तो पूर्व ही कह दिया था कि—

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन
अपित्रैलोक्य राज्यस्यहेतोः किन्तु महीकृते।

जो व्यक्ति त्रैलोक्य राज्य को भी छोड़ने को प्रस्तुत है उसे स्वर्ग और भूतल से राज्य का लालच देकर उसकी बुद्धि सकाम कर्म की ओर प्रेरित करना—और उसी सकाम कर्म को आगे हेय बतलाना और लोगों को निष्काम कर्म करने का आदेश देना—कितना अन्याय है। वास्तव में यहाँ कृष्ण जी ने अर्जुन के संकुचित धार्मिक भावों को उभारने का प्रयत्न किया है। और उसे युद्ध करने की ओर किसी प्रकार से प्रेरित करने का यह साधन निकाला है। आगे निम्नलिखित श्लोकों में कृष्ण जी ने स्पष्टरूप से ऐसे कर्मों की निन्दा की है जो स्वर्ग पाने की दृष्टि से किये जाते हैं।

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्म कर्म फलप्रदाम्।
क्रिया विशेष बहुलां भोगैश्वर्य गतिं प्रति
भोगैश्वर्य प्रसक्तानां तयाहृत चेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौन विधीयते॥

इन श्लोकों को पढ़कर कोई भी निष्पक्ष व्यक्ति इस नेष्कर्ष पर पहुँचेगा कि कृष्ण जी ने यहाँ पर जिन 'पुष्पतां वाचं" की निन्दा की है; आपने स्वयं उन्हीं का

प्रयोग—

"हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्
के वाक्य में किया है।

अर्जुन को इस सकाम कर्म की ओर प्रयोजित करते
फिर कृष्ण जी कैसे यह आशा करते हैं कि उनकी व्य
सायात्मका बुद्धि समाधिस्थ हो सकती है।

और फिर निष्काम कर्म की भी बात कुछ समझ
नहीं आती। यदि हम अपने ध्येय की ओर दुर्लक्ष्य करें
तो हमारी कार्य-प्रणाली में उत्साह और स्फूर्ति न होगी
यदि हम यह ध्यान में ही न लावें कि हमें परीक्षा पा
करनी है तो हमें पढ़ने अवश्य उत्साह में और स्फूर्ति न होगी
परीक्षा पास करने का ध्येय अथवा कीर्ति-प्राप्ति का ध्ये
जब हम अपने समक्ष रखेंगे तभी हम अध्ययन में अधि
उत्साह और स्फूर्ति से काम लेंगे। अन्यथा हम केवल प
यंत्र की भाँति काम करते रहेंगे और हमें यह भी ज्ञान
होगा कि हम क्यों यह सब कर रहे हैं। अर्जुन ने यु
की इतनी बुराइयां दिखायीं कृष्ण जी ने उनका क्या उत्
दिया? इतने व्यक्तियों की हिंसा करने का परामर्श दे
कहाँ तक न्याय-सङ्गत था और फिर यह भी बात सम
में नहीं आती—

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः

क्या एक मुसलमान के लिए, जो यह समझता है कि उसका धर्म ईसाई-धर्म और हिन्दू-धर्म से हेय है और जो यह विश्वास करता है कि अपने धर्म के अनुसार चलने से उसकी नैतिक और सामाजिक हानि है, यही श्रेयस्कर है कि वह अपने ही धर्म पर आरूढ़ रहे। चाहे उसे उसमें विश्वास हो अथवा न हो ?

इन सब बातों से कम से कम यह तो स्पष्ट है कि गीता में भी पोलें हैं। इतना कहकर मैं चुप हो गया। अवधूत मेरी बातों को दत्तचित्त होकर सुनता रहा था। कभी कभी बीच में मुस्करा दिया करता था। अपने सम्भाषण के समाप्त करने के पश्चात् मैंने अवधूत के नेत्रों की ओर देखा। मेरी यह धारणा थी कि इन नेत्रों में मेरे तर्कों का समर्थन होगा। परन्तु नेत्रों में अनुमोदन का पूर्ण अभाव सा ज्ञात होने लगा। इस पर मैं कह उठा, 'कहो भाई मेरी बातों पर आपकी क्या सम्मति है।'

अवधूत ने कुछ सोचकर कहा, "गुरु जी, आपकी शङ्काएँ स्वाभाविक ही हैं और उनपर चित्त को उद्विग्न हो जाना भी नैसर्गिक है, परन्तु मेरे निकट ये शङ्काएँ उसी रूप में नहीं जैसी आपके समक्ष हैं। सम्भवतः

मैं उन्हें किसी दूसरे ही विचार-बिन्दु से देखता हूँगा।"

इस पर मैंने पूछा, "तो क्या आप मेरी शङ्काओं का यथोचित उत्तर दे सकते हैं?"

इस पर अवधूत ने कहा 'उपयुक्त उत्तर देने का तो भगवन, मैं अपने के अधिकारी नहीं समझता परन्तु मैंने गीता के इन विवाद-ग्रस्त विषयों पर जिस प्रकार अध्ययन किया है उसे आपके समक्ष अवश्य उपस्थित करूँगा।

यह बात अवश्य है कि पहले पहल कृष्ण जी ने व्यर्थ का ऊहापोहिक विवाद करना उचित नहीं समझा। उनकी यह धारणा थी कि यदि अर्जुन मोटी मोटी बातों से ही युद्ध के लिए प्रवृत्त हो जाय तो सूक्ष्म दार्शनिक सिद्धान्तों का व्यर्थ में विश्लेषण क्यों किया जाय। इसी लिए तर्कों को न बतलाकर उन्होंने केवल निष्कर्ष ही सामने रख दिया था। इसमें अनभिज्ञता के कारण टालने की भावना न थी, वरन् सूक्ष्म-दार्शनिक सिद्धान्तों की विवेचना करना वे व्यर्थ समझते थे। कदाचित् वे यह समझते हों कि अर्जुन का मानसिक विकास अभी इतना नहीं हुआ है कि वह इन गहन विषयों में प्रवेश कर सके। हिन्दू शास्त्रों में जो यह लिखा है कि शूद्र बालक और

नारी को वेद न पढ़ाना चाहिए; उसका भी यही तत्व है। इसका अर्थ केवल यह है कि जिसकी बुद्धि परिपक्व न हो उसे दार्शनिक सिद्धान्तों के परस्पर विरोधी तर्क न देना चाहिए अन्यथा वह किंकर्तव्य विमूढ़ होकर शिथिल सिद्धान्त वाला हो जायगा। धर्म मूलों के अपवादों को सुनकर उनकी बुद्धि सिद्धान्त से च्युत हो जायगी। चाहे वह शूद्र हो चाहे वह ब्राह्मण, क्षत्री; चाहे बालक हो चाहे युवा, वृद्ध हो अथवा नारी या पुरुष हो; यदि बुद्धि परिपक्व नहीं है तो उसे दार्शनिक सिद्धान्तों के झगड़ों में न डालना चाहिए। सम्भवतः इसी विचार से कृष्ण ने पहले अर्जुन से अधिक तर्क करना उचित नहीं समझा। परन्तु जब अर्जुन ने अपने वक्तव्य से यह उद्घोषित कर दिया कि वे सूक्ष्म विवेचना के समझने की क्षमता रखते हैं तब कृष्ण ने उन्हें उच्च सिद्धान्तों की बातें सुनानी आरम्भ कर दीं।

कृष्ण जी के इस वाक्य पर कि 'हतोवा प्राप्यसि स्वर्गम्'—इत्यादि, हमें केवल इतना ही निवेदन करना है कि गीता कोई दर्शन शास्त्र नहीं है; यद्यपि दार्शनिक सिद्धान्त उसमें भरे पड़े हैं। प्रत्येक बड़े ग्रन्थ के सभी भाग उत्कृष्ट नहीं होते और न प्रत्येक लेखक का लिखा

हुआ सब का सब अच्छा ही होता है। यहाँ केवल कृष्ण जी ने क्षात्र-धर्म की विवेचना की है। इस दलील और बाद में दी हुई कर्म-योग शास्त्र की दलीलों में अन्तर है। यह दलील एक साधारण दलील है; जिसके द्वारा कृष्ण जी अर्जुन के मानवी भाव उभाड़ कर उन्हें कार्य में योजित करना चाहते थे। इसमें तत्कालीन विचारों की छाप भी प्रतीत होती है।

रहा युद्ध की बीभत्सता के सम्बन्ध में, यह सभी मानते हैं कि युद्ध के परिणाम भीषण हैं। परन्तु आज तक इसे भी किसी ने अस्वीकार नहीं किया कि युद्ध करना कभी कभी अनिवार्य हो जाता है। दुष्टों का विनाश करके उस हिंसा के द्वारा मनुष्य मानव-समाज के प्रति उन दुष्टों के द्वारा की जाने वाली घोर हिंसा को रोक सकता है।

जहाँ तक निष्काम कर्म की बात है मेरी यह धारणा है कि इस सम्बन्ध में आपके विचार कुछ भ्रमात्मक हैं। इसका केवल अभिप्राय इतना है कि फल प्राप्ति में हमें आसक्ति न होना चाहिए। फल को दृष्टि में रखने का विरोधी गीता नहीं है। वह तो केवल इतना कहती है कि फल की प्राप्ति में आसक्त न होना चाहिए; वरन्

विफल हो जाने पर नैराश्य उत्पन्न हो जाता है और दुख होता है। परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि विफलता अथवा फल-प्राप्ति की ओर दुर्लक्ष्य करना चाहिए। वास्तव में मानव-जीवन का उपयुक्त विकास विफलता की ठोकर और सफलता के आस्वादन से ही होता है।

"स्वधर्मो निधनं श्रेयः" इत्यादि वाक्य में धर्म शब्द का प्रयोग मत अर्थ में नहीं किया गया और न इस प्रसङ्ग में कृष्ण जी के समक्ष ईसाई, मुसलमान अथवा यहूदी इत्यादि का ध्यान ही रहा। यहां स्वधर्म से केवल स्वपैतृक—व्यापार से अभिप्राय है। केवल इतना ही यहां पर ध्यान दिलाया गया है, प्रत्येक व्यक्ति को अपने जातिगत कर्मों का करना अधिक श्रेष्ठ है। अर्थात् एक अध्यापक के लिए आवश्यक है कि पहले वह अध्यापन कार्य करे, व्यापार न करने लग जाय। ऐसा करने से उसे हानि होने की आशङ्का है। वातावरण और पैत्रिक स्वभाव से हममें अपने पूर्वजों के व्यवसाय करने की एक नैसर्गिक क्षमता उत्पन्न हो जाती है। यह बात नहीं कि इस विषय में कोई अपवाद न हो सकते हों, परन्तु यह केवल सिद्धान्त की बात है। अपवाद केवल सिद्धान्तों को दृढ़ बनाते हैं, यहाँ कृष्ण जी चाहते हैं कि अर्जुन

अपने क्षात्र-धर्म का अवलम्बन करके युद्ध करे। ब्राह्मण-धर्म में पड़कर वैराग्य न प्रदर्शित करे।

इन सब बातों के सुनकर मुझे कुछ सन्तोष हुआ और गीता के सम्बन्ध में अन्य बातों के जानने की इच्छा उत्पन्न हुई। मैंने पूछा, 'गीता में और कौन कौन सी अच्छाइयां हैं, जिससे यह इतना उच्च कोटि का ग्रन्थ माना जाता है।

इसपर अवधूत ने कहा, 'गुरु जी, आपने बहुत ही उपयोगी प्रश्न किया है। मैं अपने ज्ञान के अनुसार गीता की विशेषतायें आपके समक्ष उपस्थित करूँगा।

गीता की विशेषतायें अनेक हैं। उनका उल्लेख करना थोड़े से अवकाश में कठिन है परन्तु उन विशेषताओं में से कुछ मुख्य विशेषताओं का परिचय आपके सम्मुख उपस्थित करूँगा।

१—गीता एक वैज्ञानिक ग्रन्थ है उसमें विज्ञान के सिद्धान्तों का प्रतिपादन है:—

नासतो विद्यते भावो ना भावो विद्यते सतः।

उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वन योस्तत्त्वदर्शिभिः॥

इसमें Ex Nihils Nihilest सिद्धान्त की पुष्टि की गयी है। गीता में तत्वदर्शी शब्द का भी विज्ञान

अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥
जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।
शीतोष्ण सुख दुखेषु तथा मानापमानयोः ॥
उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत्
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥

६—इसी कथन के अनुसार गीता में सुख-दुख देने वाला ईश्वर नहीं बतलाया गया।

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥
ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥

७—इसी प्रकार गीता की सब से बड़ी विशेषता यह है कि उसने योग की बड़ी सुन्दर और वैज्ञानिक परिभाषा की है। एक स्थान पर कहा है कि दुःख-संयोग-वियोग-विद्या को योग कहते हैं। दूसरे स्थान पर बतलाया है 'योगः क्रियासु कौशलम् ।' वास्तव में ये दोनों परिभाषाएँ एक दूसरे की पूरक हैं। अन्तिम परिभाषा में क्रियाशक्ति के सार विज्ञान निदर्शन का निचोड़ कर रख दिया गया है।

८—इसी प्रकार गीता में कर्म की परिभाषा बड़ी सुन्दर

और वैज्ञानिक है। जिस विधान से विश्व का प्रादुर्भाव संवर्द्धन पुनश्च लय हो उसी को कर्म कहते हैं।

९—गीता में अध्यात्म-विद्या की भी परिभाषा दी है। 'स्वभावो उपध्यात्म, उच्यते।' अर्थात् प्रकृति के नियम और अनियम और उनका क्रिया-विधान का विज्ञान अध्यात्म विद्या है, और उसी का अध्ययन करना अध्यात्म विद्या का अध्ययन करना है।

१०—राजाधिराज योग की परिभाषा द्वारा यह सिद्ध करने की चेष्टा की गयी है कि अच्छे विचारों की शुद्धि से ही आत्म-शुद्धि होती है।

११—तप की परिभाषा में भी शरीर का तप, मन का तप इत्यादि विधान गीता में दिये हैं।

१२—वर्तमान वैज्ञानिक अनुसन्धानों की पुष्टि गीता में यह कह कर, कि मन, चित्त, बुद्धि, अहङ्कार सब शरीर के साथ हैं, इसी के सूक्ष्म विन्यास हैं; की गयी है। बुद्धि के लिए तो स्पष्ट कहा है कि वह शरीर की ही व्यवहार-इन्द्रिय है।

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्चेन्द्रियगोचराः ॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं चेतनाधृतिरेच
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्

१३—ज्ञान की परिभाषा गीता से सुन्दर सम्भवतः कहीं किसी शास्त्र में दृष्टिगत न होगी। यह बहुत सूक्ष्म एवं व्यापक है। ऊपर अध्यात्म-ज्ञान क्या है, यह बतलाया जा चुका है। गीता में तत्त्वज्ञान वर्तमान काल के विज्ञान शब्द के सदृश प्रयुक्त किया गया है। इसी के अनुसार गीता में ज्ञान की परिभाषा यह है:—

> अध्यात्मज्ञान नित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थ दर्शनम् ।
> एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥

१४—यदि गीता में नास्तिक मत के प्रतिपादन का अन्वेषण किया जाय तो वह भी प्रमाण सहित उपलब्ध हो सकता है। यह श्लोक इसका स्पष्ट उदाहरण है:—

> अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
> अव्यक्त निधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥
> नासतो विद्यते भावो ना भावो विद्यते सतः ।
> इत्यादि ।

१५—आगे से अब हम यहाँ गीता की उस विशेषता की ओर ध्यान देते हैं, जिसमें कर्म करने का प्रतिपादन किया गया है। जन्म से लेकर अन्त तक कर्म करते रहने का आदेश है। कर्मों को मुक्ति का साधन बत-
है।

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नो द्विजते चयः।
हर्षामर्ष भयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥

गीता शास्त्र में हमारे लिए चुने हुए अभ्यास दिये हुए हैं। सद् मार्ग दिखलाया गया है। उसके ऊपर चलने की कठिनाइयों से बचने के उपाय भी बतलाये गये हैं।

इतनी बात कहकर अवधूत चुप हो गया। मुझे गीता के सम्बन्ध में बहुत-सी नयी बातें ज्ञात हुईं। मैंने ध्यान से सोचा और फिर मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि गीता में भक्ति-मार्ग और ज्ञान-मार्ग का अच्छा सम्मिश्रण दिखाया गया है। मैं यह पूछना चाहता था कि भक्ति-मार्ग और ज्ञान-मार्ग में कौन श्रेष्ठ है; परन्तु पूछने के पहले यह विचार उत्पन्न हुआ कि भक्ति-मार्ग कहते किसे हैं। ज्ञान-मार्ग का तो थोड़ा-बहुत ज्ञान था परन्तु भक्ति-मार्ग का कुछ भी ज्ञान न था। मैंने अवधूत से पूछा कि भक्ति-मार्ग क्या वस्तु है?

उसने उत्तर दिया, 'हे गुरुवर संक्षेप में भक्ति-मार्ग वह मार्ग है, जिसमें एक व्यक्ति अपनी सारी शक्तियों को, सारे व्यापार को अपने प्रियतम पर केन्द्री-भूत करके तल्लीनता प्राप्त करके आत्म-संयम करता है और अपनी आत्मा और प्रियतम की आत्मा के ओत-प्रोत से सारे

प्रभावड को आगममय देखने लगता है और आत्मसात उन्नत कर लेता है। यह भक्ति चाहे प्रकृति की किसी सृष्टि के प्रति की जाय—चाहे किसी व्यक्ति या वस्तु विशेष के प्रति, अभ्यास करके आत्मीयता की दशा और आत्मसात की स्थिति प्राप्त हो सकती है।'

इस पर मैंने कहा—'परन्तु दूसरी ओर क्या यह बात सत्य नहीं है कि मनुष्य समाज में किसी एक व्यक्ति को प्रेम करने में कभी कभी बड़ी कठिनाइयां उपस्थित होती हैं। यही कठिनाइयां पहले आपको उस व्यक्ति के प्राप्त करने में पड़ती हैं जिससे आप प्रेम करना चाहते हैं और जिसके द्वारा आप अपने को अनुभव करने की चेष्टा करते हैं। यदि भगवान की अनुकम्पा से आपको ऐसा पात्र मिल भी गया तो पहिले बहुत काल तक आपको अपने प्रियतम के हृदय और मन को आत्मसात करने में अपनी सारी शक्ति तपस्या में लगा देनी पड़ती है और इस पर भी पूर्णरूप से प्रियतम के मन पर अपना प्रभाव पड़ जाय यह कठिन ही नहीं, असम्भव है। मुझे ऐसा उदाहरण स्मरण है और मैंने ऐसे व्यक्ति देखे हैं जिन्होंने अपना सब कुछ अपने प्रियतम पर निछावर किया है। परन्तु प्रियतम ने क्या उस सब का

प्रत्युत्तर उपयुक्त मात्रा में दिया है? कभी नहीं। प्रेमी ने अपना सारा धन उसके चरणों में अर्पित कर दिया। पहिले तो प्रियतम ने उसके स्वीकार करने में ही ऐसे भावों का प्रदर्शन किया कि मानों वह अपना अपमान अनुभव कर रहा है। जिस उच्च भावना से प्रेरित होकर प्रेमी आत्म-उत्सर्ग की दीक्षा से अपने धन को उसके चरणों में अर्पित करता है; मानवी प्रियतम उसकी उच्चता के अनुभव ही नहीं करता। यही नहीं, यदि प्रियतम से सम्भाषण करने की इच्छा प्रकट करता है तो प्रियतम उसे टाल ही नहीं देता, वरन् उसे बड़ी वेग से झिड़कता है। प्रेमी यदि चाहता है कि मेरा प्रियतम मेरी विद्वता और दार्शनिक भावों से लाभ उठावे तो वह उसे विक्षिप्त समझ कर उसकी बातों की अपमान पूर्वक अवहेलना करता है। यदि यही सिद्धान्त और उससे भी निकृष्ट बातें यदि कोई दूसरा व्यक्ति सुनावे तो वह बड़े चाव से सुनता और उनको मनन करता है, परन्तु अपने प्रेमी की बातों में उसे तनिक भी आनन्द नहीं आता। उसे अपने प्रेमी के साथ आने में, घूमने में बात करने में हँसने में कुछ अस्वाभाविकता सी प्रतीत होती है। वह उसे टालने की ही सोचा करता है। यदि वह उससे

अमुक स्थान पर बैठने को कहे, तो प्रियतम उसे तुरन्त अस्वीकार कर देगा। दूसरे व्यक्ति की आज्ञा तुरन्त मान लेगा। उसे प्रियतम के चिढ़ाने में ही आनन्द आता है।

यह भी यहाँ बतला देने की आवश्यकता है कि इस प्रकार की व्यवस्था मैंने उच्च कोटि के प्रेमी और प्रियतम में देखी है। यह तिरस्कार ऐसे प्रेमी का है जो सिवाय अपने प्रियतम के किसी पर अनुराग ही नहीं रखता है; जो चौबीसों घण्टे प्रियतम के ही सम्बन्ध में चिन्तना किया करता है। जो प्रियतम को ऊँचा से ऊँचा बनाने के लिए न मालूम क्या क्या किया करता है; जो प्रियतम के दुःख-निवारण के लिए तपस्या और साधना करता है। जो प्रियतम की प्रसन्नता के लिए सब कुछ बलिदान करने को प्रस्तुत रहता है, जो प्रियतम द्वारा अपमानित होकर भी उसे कोटिशः आशीर्वाद देता है; और कभी उसकी अहित की भावना प्रवेश भी नहीं करने देता। जिसकी आहों में भी, प्रियतम का कल्याण हो, यही निकलता है; जो कि बारम्बार अपमानित होकर भी इस भावना को—कि प्रियतम से सम्बन्ध विच्छेद कर दिया जाय—पाप समझ कर उसके अंकुरित होने में अपना महान पतन अनुभव करता है; जो विच्छेद की बात

स्मरण आते ही आत्म-विनाश अनुभव करने लगता है, जो कई बार प्रियतम के तिरस्कार से ऊब कर और दूसरे जन्म में प्रेम अधिक परिपक्व करेंगे, इस भावना से प्रियतम में लौ लगा कर आत्म-हत्या करने पर भी तत्पर हो जाता है; ऐसे सच्चे प्रेमी ने भी प्रियतम का आत्म-साध नहीं कर पाया; फिर आप मनुष्य-प्रेम का चाहे वह एक के प्रति ही क्यों न हो—किस प्रकार परामर्श देते हैं।

यही नहीं कि यह प्रेम एकाङ्गी ही हो। वही तिरस्कार करने वाला प्रियतम भी अपने प्रेमी के प्रति अन्तरात्मा में अपनी सहानुभूति रखता है। कभी कभी मुस्करा कर उसकी आत्मा को स्फुरित कर देता है। कभी कभी उसके कहने को अक्षरशः मान भी लेता है। प्रेमी को आत्म-हत्या करने से रोक देता है। कभी कभी उसके दुःख पर आँसू भी बहा देता है। यद्यपि यह बात भली प्रकार जानता है कि प्रेमी उससे कुछ नहीं चाहता, फिर भी वह सब कुछ निछावर करने को तैयार है। ऐसे प्रेमी और प्रियतम का यह हाल है; तो अन्य साधारण वासना के चेरों को कैसे आनन्द मिल सकता है। अतएव, मैं तो यह समझता हूँ कि वास्तव में प्रेम किसी मूर्तिमान वस्तु से न करना चाहिए, विशेषता ऐसी वस्तु से जिसमें प्रत्युत्तर

देने की क्षमता है। किसी अमूर्त पदार्थ से अथवा किसी सिद्धान्त से प्रेम करके अपना जीवन निर्वाह करना चाहिए था। मेरी तो यही धारणा है। आपकी क्या सम्मति है?

उसने उत्तर दिया—'भगवन्, मैं ने आपके प्रेमी और प्रियतम का उदाहरण सुना। मुझे तो उस प्रेम में दैवी परिमाणु दृष्टिगत होते हैं। मुझे विश्वास है कि ऐसा उच्च प्रेमी धीरे-धीरे प्रियतम को आत्म-सात अवश्य कर लेगा। परन्तु इसके लिए बहुत अभ्यास और बड़े काल तक प्रतीक्षा करने की आवश्यकता है। ऊबने की बात नहीं। सफलता के प्रमाण भी उपलब्ध हैं। ऐसी अवस्था में प्रेमी को अपने मन की बात करवाने में प्रियतम के मनोविज्ञान का ध्यान रखना चाहिए। मैं यह मानता हूँ कि ऐसे प्रेमी बहुत ही कम हैं। लोग ऊब कर यह मार्ग छोड़ देते हैं परन्तु यह बात नहीं कि मानव-प्रेम के उच्चतम उदाहरणों का अभाव हो। सीता और राम का प्रेम, भरत और राम का प्रेम, अर्जुन और कृष्ण का प्रेम तथा दशरथ और राम का प्रेम ये सब मानवी-प्रेम ही के उदाहरण हैं। अभी हाल के उदाहरण में दक्षिण के महात्मा तिरुवल्लुवर और उनकी पत्नी का दृष्टान्त बहुत उच्च है। मैं

आपकी इस धारणा के प्रतिकूल नहीं कि सिद्धान्तों से अथवा अमूर्त पदार्थों से प्रेम करना अच्छा है परन्तु मैं केवल यह कह देना चाहता हूँ कि मनुष्य का प्रेम भी किसी से न्यून नहीं परिगणित किया जा सकता है। यदि प्रियतम एक बार तिरस्कार करके आत्मा की उन्नति अवरुद्ध कर सकता है तो अनेक बार प्रत्युत्तर देकर आत्मा के विकास में असीम सहायता भी दे सकता है।'

अवधूत की ये बातें मुझे अच्छी लगीं। मेरे भी एक प्रियतम है। मैं भी उसके प्रेम में दीवाना हूँ। वह मुझे झिड़कता अवश्य है परन्तु प्रेम भी करता है। उससे सम्बन्ध विच्छेद करने को मैं भी पाप समझता हूँ। यद्यपि मेरा प्रियतम मुझे धोखा भी दे देता है, परन्तु मेरा प्रेम उस पर वैसा ही है। वह मेरा प्रियतम यही अवधूत है। वह मेरा शिष्य था। धीरे धीरे इसके प्रति मुझमें ऐसी श्रद्धा-भक्ति और प्रेम बढ़ गया है कि मैं इसके बिना तनिक देर के लिए भी जीना कठिन समझता हूँ। प्रति दिन प्रेम बढ़ता ही जाता है। यह मेरा अवधूत भी आज गया है। यह सम्भाषण समाप्त होने पर मैंने अवधूत के हाथ पकड़कर अश्रु पूरित नेत्रों से कहा, 'भाई, अब मुझे छोड़कर न चले जाना।'

हम दोनों बातें करते करते फि
ओर आ गये। इस स्थान को मैं
मैंने अवधूत से कहा 'भाई, इस स्थान
आया हूँ और अपना मार्ग भूल गया
दिया, कोई चिन्ता नहीं; भूल कर ही
मुझे तो पूर्ण विश्वास है कि एक बार
रन्तु अब अधिक नहीं भूल सकते। इस
न कीजिए।

अवधूत की यह बात सुनकर नाना त
में उत्पन्न होने लगे। परन्तु अवधूत ने
बातें करना आरम्भ कर दीं। मैं भी उन्हीं
मुझे गाने की सूझी। अवधूत के प्रति प्रेम
रहा था। मुझे वही वही दिखाने लगा। ऐसा
लगा कि वही मेरा कल्याण कर सकता है
का यह पद बड़े स्वर से गाने लगा—

जगत दीनानाथ हरे
सोई कृपालु परम सुन्दर सोई, जापर कृपा करे
राजा कौन बड़ो रावन सों गर्वहिं गर्व हरे
रंकह कौन

अधिक कुरूप कौन कुबजा सों श्री पति आयु बरे।
जोगी कौन अधिक संकर सों जाकहँ काम छरे॥
अधिक विरक्त कौन नारद सो, जम घर जात डरे।
सूर श्याम भगवन्त भजन बिनु, सुनि सुनि जठर जरयो॥

मैंने यह गीत बड़े राग से दो बार गाया। मेरे दीना नाथ तो यही अवधूत थे। गाने के आवेग में कुछ निसंज्ञता सी आ गयी, मैं उन्निद्रित सा हो गया और अवधूत की जङ्घा में सिर रखकर सो गया।

निशीथनाथ की शीतल रश्मियों ने अपना स्थान परिवर्तित कर दिया था। प्रातःकाल के आगमन की घोषणा अरुणशिखा ने भी कई बार दी; मुझे भी सजग होने का सन्देश मिला। नेत्र उन्मीलन करता हुआ मैं उठ बैठा। क्षपाकर कान्तिहीन था। वनपशु यतस्ततः शीघ्रता से लपक कर निकलते जाते थे। कतिपय झाड़ियों में प्रविष्ट होते दिखायी देते थे और कतिपय कन्दराओं में आश्रय ले रहे थे।

अधिक चेत आते ही मैंने अवधूत का अन्वेषण किया। परन्तु जहाँ तक दृष्टि पहुँच सकी, मुझे कोई न दिखायी दिया। मैंने व्यर्थ में आह्वान करना उचित न समझा। शान्ति से बैठ कर मैं रात्रि की घटनाओं पर

ध्यान से विचार करने लगा। अपनी स्थिति नग्नरूप में दृष्टि के सामने दीखने लगी। इतने दिनों के पश्चात् मैंने फिर अपने को पँचराहे पर पाया। न जाने कहाँ कहाँ भ्रमण किया, किन किन अवस्थाओं में रहा। परन्तु, अब फिर जहाँ से चला था वहीं अपने को देख कर अत्यन्त विषादयुक्त हुआ। पुनः भ्रमण करना ही है, यह भी निश्चय ही था। कल से क्षुधा कुछ अधिक सता रही थी। मैंने सोचा कि किसी निकटस्थ ग्राम में जा कर भिक्षावृत्या अपनी क्षुधा तृप्त करूँ।

चारों ओर दृष्टि विक्षेप की। पाँचों मार्गों को देखा। अन्त में यही निश्चय किया कि जिस ओर ऊँची ऊँची अट्टालिकाएं दृष्टिगत होती हैं उसी ओर जाना उपयुक्त है। यह भी विचार आता जाता था कि धनी व्यक्ति इसी ओर रहते हैं, अतएव क्षुधा निवारणार्थ उनसे कुछ अवश्य मिल जायगा। यही विचार करता हुआ मैं उसी दिशा की ओर अग्रसर हुआ। एक बार तो मन कुछ अनायास रुक सा गया। चित्त भी कुछ हिचका। मानो कोई अव्यक्त नाद में आदेश देने लगा कि इस ओर जाना उचित नहीं। और मानो यह भी कोई कह रहा था कि भोजन की व्यवस्था वृक्ष के फलों द्वारा तदन्त

की जा सकती हैं । न जाने क्यों ऐसा आभास होने लगा कि यदि मैं इस ओर गया तो सांसारिक प्रलोभनों में न कहीं फँस जाऊँ । परन्तु फिर स्मरण आया कि सन्तों की तजी हुई विषया से मूढ़ आकृष्ट होते हैं । हृदय में कुछ दाम्भिक आश्वासन हुआ । एक उँगली में अचानक कुछ पीड़ा सी हुई । परन्तु किसी बात का ध्यान न करके मैं उसी रम्य नगरी की ओर चला ।

थोड़ी दूर चल कर मैं एक गगन-चुम्बी प्रासाद के नीचे खड़ा हो गया । शीघ्र ही द्वार पर के सिपाही ने पूछा कि तुम क्या चाहते हो । मुझे भूख लगी हुई थी अतएव मैंने निसङ्कोच भाव से यह कह दिया कि मैं कुछ भोजन चाहता हूँ । भोजन का नाम सुनते ही उसने मुझे आड़े हाथों लिया । वह कहने लगा कि क्या यहाँ कोई सदावर्त खुला है । मुझे थोड़ा आश्चर्य सा हुआ । परन्तु मैंने उत्तर दिया कि ऐसे धनी लोगों के यहाँ भी दान यदि न मिला तो अन्यत्र कहाँ मिलेगा । उसने तुरन्त वज्र प्रहार से भी अधिक मर्माहत करने वाले वाक्यों में दो चार अपशब्द कहे, और अन्त में यह भी कहा कि यदि तुम्हारे ऐसे दुष्टों को धन लुटाया जाता तो आज हमारे लाला लक्षपति न होते । मुझे क्रोध आने ही वाला

समझते हैं वह इन्हें नरक की ओर अग्रसर करने वाला है।

एक बार अनायास यह ध्यान आया कि यदि कहीं मेरे पास धन सञ्चित हो जाय तो मैं इन मूर्खों को प्रदर्शित कर दूँ कि धन का व्यय किस प्रकार किया जाता है। तुरन्त ही मन में एक धीमा सा स्वर सुनायी पड़ा कि यदि तुम्हें भी धन मिल जायगा तो तुम भी वैसा ही व्यवहार करने लगोगे। हृदय की इस उद्भावना के समक्ष पापी मन लज्जित हो गया। परास्तशास्त्रार्थ करने वाले की सदृश इसने भ्रमात्मक तर्क का आश्रय लिया। बुद्धि के तर्क कुतर्क के घोर रव में ये अर्द्ध स्फुट भाव उदय और विलीन हो गये। एक जाग्रत व्यक्ति सद्य-अनुभूत स्वप्न जाल की एक कड़ी को, जो अनायास ही स्मरण पट पर सकृत आभासित होकर सर्वदा के लिए अतीत में विलीन हो जाती है, पुनः पुनः विचारगम्य करने की चेष्टा करता है, और वह बारम्बार विफल होता है। मैं भी उसी प्रकार उस भाव को बोध गम्य करने में विफल हुआ। 'व्यवसायात्मिका बुद्धि के पयोधि में प्रतिक्षण ऐसे सहस्रों बुदबुदे उठते हैं और विलीन हो जाते हैं। मुझे तो दृढ़ विश्वास था कि धन ऐसा क्षुद्र आकर्षण मुझे कभी आदर्श भ्रष्ट कर ही नहीं सकता। मैं विचार

करने लगा कि इस 'भइये' के तर्क से मेरा धनी के
कुत्सित विचार बना लेना अन्याय है। यह अपढ़,
कपाटों की भाँति जिनकी यह रक्षा करता है—जड़
मूर्ख है। यदि यह दो अस्थि चर्म के स्तूपों पर अ
है तो वे भी दो कब्जों पर घूमते हैं। रक्षा धर्म में तो
इससे भी अधिक तत्पर हैं। श्रमित होकर यह कभी कभ
धराशायी भी हो जाता होगा परन्तु ये अपने कार्य में
अत्यन्त व्युत्पन्नता के साथ चौबीसों घण्टे खड़े रहते
हैं। अतएव इस मूर्ख की बातों पर विश्वास न करना
चाहिए। इस महल के स्वामी से साक्षात् होने पर ही
किसी प्रकार की धारणा निश्चय करना उपयुक्त है।

इसी विचार में मैं निमग्न था कि इतने में दक्षिण
की ओर से एक घड़घड़ाती हुई मोटर दिखायी पड़ी।
उसे देखते ही उस उद्दण्ड सेवक ने मुझको भाग जाने
का आदेश दिया। मैं थोड़ा हटकर वहीं एक ओर खड़ा
हो गया। मोटर आकर द्वार पर रुक गयी। थोड़ी देर
में लगभग चार मन का एक मांस पिण्ड अपने कुम्कुम की
विशालता का परिचय देता हुआ काँख-कूँख कर मोटर
पृथ्वी पर अवतरित हुआ। शरीर ४॥ फीट से अधिक
था न था। और सम्भवतः इतना ही चौड़ा था। सारे

शरीर का भार एक एक हाथ के दो स्थम्भों पर रखा था। जाँघें परस्पर सङ्घर्षण करती थीं। कपाल-पिण्ड एक बड़े दलदार तरबूज की भाँति भारी था। वक्षःस्थल के उभय ओर आध आध सेर के मांस के लोथड़े लटकते थे। हाथ शरीर की शालीनता की दृष्टि से कुछ छोटे थे। पाचन-भाण्डार की आकृति वर्षा द्वारा विरुपित एक दिशा की ओर लम्बायमान गुड़ के बोरे की भाँति थी। अग्र-भाग आवश्यकता से अधिक विस्तृत और लम्बायमान था। धोती किस स्थान से बँधी थी यह कहीं दीखता ही नहीं था। विग्रह व्युत्पन्नशीलता का परित्याग कर चुका था। शरीर पर एक महीन कुरता और उसके नीचे एक 'चीकट' बनयाियन थी। सिर पर एक अर्द्ध-गुम्फित और अर्द्ध-विशृङ्खलित रक्तवर्ण की उष्णीश थी। लाल जी के उतरते ही उनके सेवकगण सजग हो गये। मुझे इस मनुष्य नामधारी मांस पिण्ड को देख कर बड़ा आश्चर्य हुआ। नेत्र बड़े बड़े होने पर भी आकर्षणहीन और भयावह थे। धन होते हुए भी इस व्यक्ति की या दशा है; यही मैं विचार करने लगा।

परन्तु मुझे यह जानना था कि वास्तव में द्वारपाल ने जो कुछ कहा था उसमें कहाँ तक तथ्य है। इसे

अन्वेषण के लिए मैं थोड़ा बहुत व्यग्र-सा था लाला जी अपने एक मुनीम से एक कपड़े की गाँठ पर उपविष्ट होकर कुछ बातचीत कर रहे थे कि इतने में अवकाश उपलब्ध करके मैंने झट से उनके सामने जाकर भिक्षा के लिए आवेदन किया। लाला जी ने सुनी अनसुनी कर दी। मैंने अपनी विपन्नावस्था का कारुणिक वर्णन पुनः कुछ वेग से किया। इस पर लाला जी अत्यन्त क्रुद्ध हो गये। उन्होंने अपने एक निकटस्थ सेवक को आदेश दिया कि वह मुझे ठीक करें। वह मेरे दुर्भाग्य से वहीं द्वारपालक था। मुझसे तो वह रुष्ट था ही, झट उसने मुझे प्रताड़ित करना आरम्भ कर दिया। मैं शीघ्रता से द्रुतगामी हुआ। केवल एक बार मेरे सिर पर लकुट प्रहार हुआ इस दण्ड-मुण्ड सम्मेलन को सेठ जी रक्त-नेत्र किये देखते रहे

ऊर्ध्वनिश्वास लेते हुए मैं एक उत्तुङ्ग शिलाखण्ड पर आकर बैठ गया। मन में सोचने लगा कि धनी समाज कितना क्रूर है। परन्तु पुनः हृदय ने यही चेताया कि एक धनी के अनुभव से सार्वभौमिक निष्कर्ष निकाल लेना तर्क-सङ्गत नहीं। अतएव अनुभव का क्षेत्र अधिक विस्तृत करने की आवश्यकता है। मैं अभी क्षुधित था।

भोजनों की कहीं सुलभ व्यवस्था प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर न होती थी। परन्तु मैं अधिक चिन्तित न था । विस्तृत-नगर की ऊँची ऊँची अट्टालिकाओं ने, सुन्दर सुन्दर क्रय-विक्रय स्थानों ने और एक से एक रम्य विनोद शालाओं ने चित्त को अपनी ओर हठात् आकृष्ट कर लिया । मैं उस स्थान में उठ खड़ा हुआ और एक उत्तुङ्ग निवास के नीचे जा रहा था कि किसी ने ऊपर से एक थाली मलिन जल उत्सर्ग कर दिया। मेरे सारे वस्त्र कीच में लथपथ हो गये। मार्ग के व्यक्ति मेरा उपहास करने लगे । किसी ने भी यह न कहा कि मेरे साथ बड़ा अन्याय हुआ। हाँ, दूर से एक व्यक्ति के इतने शब्द अवश्य सुनायी पड़े कि इस मार्ग में प्रति दिन साधारण व्यक्तियों की यही छीछालेदर होती है। ये शब्द सुन कर चित्त में अपनी नपुंसकता पर कुछ ग्लानि सी हुई। बारम्बार यही भावना उठती थी कि यदि धनी हुआ तो संसार को यह प्रदर्शित कर दूँगा कि धनिकों को कैसे रहना चाहिए और निर्धनियों के प्रति उनके क्या कर्तव्य होने चाहिए।

मैं यही सोच रहा था कि इतने में एक स्थूल-काय व्यक्ति गृह से बाहर निकला। मेरे मन में यह विचार आया

कि सम्भवतः यह मुझसे क्षमा-याचना करेगा। परन्तु वह तो आकर मेरी ही भर्त्सना करने लगा। मैं चुपचाप वहां से आगे बढ़ा। जीर्ण वस्त्रों में एक साधू दिखायी दिया। इसके पीछे कई कुत्ते बड़े वेग से भूँकते चले आ रहे थे। पीछे से बालकों का एक दल हुहा करता हुआ और बेचारे साधू पर पाषाण-वृष्टि करता हुआ चला आ रहा था। मुझे देख कर ये कुत्ते मुझे भी भूँकने लगे। बालकों ने मुझे भी एक लक्ष्य बना लिया। हम दोनों विपत्ति के साथी हो गये। एक ओर बालकों की पाषाण-चर्षा और हुहाकार, दूसरी ओर कुत्तों का कर्कश नाद और हमारे वस्त्रों और शरीरों पर उनके दन्त-सन्दर्भ तथा दर्शकों की करतल-ध्वनि, हम लोगों की दशा को अत्यन्त दयनीय बनाये थी। हमारे पदों ने अपनी पूर्ण शक्ति और अपने पूर्ण वेग का परिचय दिया। हम लोग भाग कर बहुत दूर निकल आये। इन आततायियों से प्राण-रक्षा हुई।

शान्ति से हम लोग एक स्थान पर उपविष्ट हो गये। स्वस्थ होने पर एक दूसरे को परस्पर अभिवादन तथा विचार-विनिमय करने का अवकाश मिला। हम दोनों ने अनायास ही एक स्वर से पहले पहल यही कहा कि इस नगर के व्यक्ति कैसे निर्दयी और क्रूर हैं। यदि हम

लोगों में यूनानी देवता 'जोव' और 'मरकरी' की भाँति शक्ति होती तो हम भी इस नगर को जल-मग्न कर देते। यहाँ तो अतिथि-भक्त 'फिलीमन' और उनकी धर्म-पत्नी 'बासिस' की रक्षा करने की भी आवश्यकता नहीं है।

यह उफान किञ्चित् काल ही तक रहा। शीघ्र ही हम लोग दूसरी बातें करने लगे। थोड़े सम्भाषण के अनन्तर मैंने इस साधु को पहचान लिया। पुष्पबाण वाले नवयुवक की नगरी में प्रवेश होने के समय इसका और मेरा साक्षात् हुआ था। हम लोगों ने अपनी व्यथा का वर्णन किया। अत्यन्त प्रेम भाव से एक दूसरे के कण्ठ लगे। प्रथम तो अविरल अश्रुधारा का प्रवाह रहा। अतः सँभल कर हम लोग अपनी अपनी बीती सुनाने लगे। उसने अपनी झोली से कुछ भोजन निकाले। हम लोगों ने बड़े चाव से भोजन किया और निकटवर्ती जलाशय से तृषा निवृत्त की।

मध्याह्न हो चुका था। हम लोग एक घने पीपल के वृक्ष के नीचे विश्राम कर रहे थे। शीघ्र ही हम लोग निद्रित हो गये। हम लोगों की निद्रा ५ बजे के लगभग खुली। मैं यह सोचने लगे कि भोजनों के लिए कुछ प्रबन्ध करना चाहिए। मेरे साथी ने कहा कि मेरी झोली में

इस समय के भोजनों का सामान है। अतएव, अब
देखा जायगा। उसने मुझे झोली से भोजन निका
का आदेश दिया। झोली से मैंने भोजन निकालते स
देखा कि उसमें एक स्वर्ण मुद्रा है। इसकी ओर देख
की मुझे पुनः पुनः इच्छा होने लगी। साधु कुछ ता
सा गया। मुझे अपने ऊपर लज्जा आयी। साधु ने मे
कहे बिना ही इस स्वर्णमुद्रा की चर्चा करनी आरम
कर दी। उसके कहने का अभिप्राय यह था कि एक
धनिक की पत्नी ने हठात् उसकी झोली में यह मुद्रा
डाल दी है।

हम लोगों ने भोजन किया। वह मुद्रा उसी प्रकार
झोली में रात्रि को पड़ी रही। रात्रि को कई बार मुझे
उसका ध्यान आया। एक बार तो मैंने हाथ डाल कर
उसे टटोला तक, परन्तु निकालने का साहस न हुआ।
बार बार यह स्मरण आ जाता था कि स्वर्णमुद्रा पर तो
मैं एक मास तक अपनी जीविका निर्वाह कर सकता हूँ।
एक बार यह भी विचार आया कि इस साधु से इसे माँग
ही क्यों न लिया जाय। परन्तु एक ओर तो यह सोचने
में आता था कि यह मुझे लोभी कहेगा और दूसरी ओर
यह भी ध्यान आ जाता था कि कहीं इसने 'नहीं' कर

दी तो बड़ी लज्जा की बात होगी।

रात्रि इसी उधेड़बुन में बीती। प्रातःकाल ही उस साधु ने विदा होना चाहा। मैं उसे ठहरने के लिए आग्रह करने लगा परन्तु उसने जाने का ही निश्चय कर लिया था। अतएव अपना मन्तव्य परिवर्तित न कर सका। मुझे उसके जाने की तो चिन्ता न थी परन्तु यह विचार अवश्य आ जाता था कि यह स्वर्ण मुद्रा हाथ से निकली जा रही है।

निदान साधू चला गया। थोड़ी दूर तक मैं उसे पहुँचाने भी गया। एक बार मैंने उस मुद्रा के सम्बन्ध में चर्चा भी छेड़ी। परन्तु साधू का ध्यान उस ओर न देख कर मुझे चुप हो जाना पड़ा। मैं एक बार उसे माँगने ही वाला था परन्तु साहस ने साथ न दिया। जिह्वा क्रियाशील हुई; परन्तु नाद फुफ्फुस से वाक्-यन्त्र तक पहुँचते पहुँचते निष्क्रिय हो गया।

साधु के प्रस्थान के पश्चात् मैं शान्ति पूर्वक एक स्थल पर बैठ गया। थोड़ी देर बैठा बैठा इधर उधर की बातें सोचता रहा। पुनः पुनः उसी स्वर्ण मुद्रा की स्मृति आ जाती थी। फिर यह विचार करने लगा कि यह मेरी कैसी अनोखी मनोवृत्ति है कि इस छोटी

ी वस्तु का स्मरण ही नहीं भूलता । माना कि इस
समय मेरी आर्थिक स्थिति ऐसी नहीं है कि मैं अपने
भोजन का यथेष्ट प्रबन्ध कर सकूँ, परन्तु दूसरे के धन
र इस प्रकार चित्त चला जाना नितान्त पाप है।
वास्तव में धन की ओर चित्त चलना ही न चाहिए।
मैं तो एक प्रकार से धन के लोभ में फँस सा गया हूँ।
यह नितान्त अनुचित है। धन का लोभ नरक का द्वार
खोल देता है। न जाने मेरी प्रवृत्ति इस ओर क्यों अग्र-
सर हो गयी। सम्भवतः यह देख कर, कि इस संसार में
धनिक ही राज्य करता है, चाहे अपने आपको
कितना ही उच्च क्यों न समझूँ परन्तु संसार में धना-
भाव के कारण ही मुझे ठोकरें खाना पड़ती हैं। मैंने एक
बार धन के त्याज्य होने के सम्बन्ध में विचार किया था
और तर्क ने शास्त्रों के बल पर यह निश्चय किया था
कि धन का लोभ अनुचित है। उस समय यह ध्यान में
नहीं आया था कि व्यावहारिक जीवन में धन की
कितनी आवश्यकता पड़ती है। वास्तव में मुझे तार्किक
वाक्जाल निर्माण करके, अपने विवेक को उसमें निवास
कराने के लिए सर्वदा के लिए उसमें उसे बन्द कर देने
की बान सी पड़ गयी है। कई बार मैं स्वयं-निर्मित

विचार-जाल में स्वयं अपने को बद्ध पाता हूँ यहां भ
एक इसी प्रकार का भ्रम सा है

मैं इसी प्रकार की उधेड़बुन में पड़ा था कि मेरे पास
से दो नवयवस्क विद्यार्थी निकले। ये लपके हुए च
आ रहे थे। इन द्रुतगामी पथिकों की बातों ने मेर
ध्यान भङ्ग कर दिया। इनके सम्भाषण से यह ज्ञात होत
था कि ये अपने कालेज क। कोई वादविवाद सुनने ज
रहे हैं। ये दोनों उस वादविवाद के उभय पक्षी वक्ता हैं
एक का नाम सागर और दूसरे का नाम रामरत्न था
जाते जाते ये वाक्युद्ध करते जाते थे। शास्त्रार्थ देखने
की मुझे अत्यन्त प्राचीन अभिरुचि थी। मैं भी इनके
पीछे हो लिया। मुझे इस बात की अवश्य चिन्ता हुई कि
मेरे वस्त्र मलिन हैं; परन्तु विवाद देखने के लोभ ने आत
सम्मान की भावना को दबा दिया। इन बालकों
यत्र तत्र अर्द्धश्रुत वाक्यों से मुझे यह प्रतीत हुआ कि
प्रस्ताव "ज्ञान और विद्या धन से श्रेष्ठ है" इस विष
का है, मुझे यह जान कर और भी प्रसन्नता हुई। मैं
सोचा कि धनाभाव से कितने कष्ट होते हैं, देखें इस बा
की ज्ञान पक्षीय वक्ता किस प्रकार उपेक्षा कर सक
हैं। शीघ्र ही हम लोग विद्यालय हाल के निकट आये

विवाद आरम्भ हो चुका था । ज्ञान पक्ष के वक्ता ही प्रस्तावक थे । ज्योंही मैं पहुँचा, करतल-ध्वनि हुई । ज्ञात हुआ कि प्रस्तावक महोदय ने अभी अपना सम्भाषण समाप्त किया है । एक द्वार की आड़ में खड़ा होकर मैं भी सुनने लगा । इस वाद-विवाद के सभापति एक वयोवृद्ध व्यक्ति बड़ी सी पगड़ी बाँधे थे । उनके आदेश से विपक्ष दल के प्रमुख वक्ता ने प्रस्ताव का विरोध करना आरम्भ किया ।

"सभापति जी और सज्जनो ! प्रस्तावक महोदय ने जिस पटुता के साथ अपने पक्ष का समर्थन किया है वह सराहनीय है । मेरे पास उनके ऐसे सुन्दर शब्द नहीं और न उनकी ऐसी भावुकता ही । परन्तु मैं उन भावों से प्रभावित नहीं हुआ मेरे मित्र ने अपने वाक्जाल का प्रासाद बालू की नीव पर खड़ा किया है उन्होंने न जाने कहाँ से ही यह क्यों मान लिया है की हम लोग दर्शन को हेय समझते हैं और आध्यात्मिक उन्नति के प्रतिकूल हैं । क्या कोई बतला सकता है कि आध्यात्मिक उन्नति के लिए शरीर की आवश्यकता नहीं। यदि है तो जीवित रहने के लिए कौन सा ऐसा मनुष्य जो धन की आवश्यकता न बतलाये ! फिर यदि

आध्यात्मिक उन्नति के लिए शरीर की इतनी आवश्यकता है और शरीर के लिए धन की इतनी आवश्यकता है तो ज्ञान से धन हेय क्यों कर हुआ ? "Good Logic" (करतल ध्वनि)। यदि धन का अधिक मोह हम क संसार के ऐहिक सुखों की ओर आकृष्ट करता है और उससे हमारी आध्यात्मिक उन्नति अवरुद्ध होती है तो ज्ञान का भी बाहुल्य हमें मदोन्मत्त बना देता है और हमारी आध्यात्मिक उन्नति में बाधा पड़ती है। विद्योपार्जन भी कभी कभी एक प्रकार का व्यसन हो जाता है और हम उसमें इतने व्यस्त हो जाते हैं कि विद्योपार्जन को साधन न समझ कर साध्य समझने लगते हैं। हम विद्योपार्जन में इतना फँस जाते हैं कि हमें इस बौद्धिक व्यायाम में ही आनन्द आने लगता है। हम सत्य के अनुसन्धान से दूर होते जाते हैं। ज्ञान का अहङ्कार हमें भगवान के प्रति भक्ति नहीं करने देता। ज्ञान हमारी भावुकता को नष्ट करके हमें क्रूर तार्किक बना देता है। ज्ञान के अभाव से हम केवल मूर्ख समझे जा सकते हैं किन्तु धन के अभाव से तो हमारी मृत्यु हो जाती है। (करतल ध्वनि)

सज्जनो, जितने बड़े बड़े साधू सन्त हुए हैं सब ने

इस ज्ञानरूपी राक्षस की निन्दा की है। कवियों ने तो इसकी भूरि भूरि निन्दा की है। यह भक्ति में अड़चन उपस्थित करता है। योग चित्तवृत्ति के निरोध से आता है। ज्ञान न जाने चित्तवृत्तियों को कितने वेग से सञ्चालित करता है। ज्ञानी अपने मन को इधर से उधर और उधर से इधर भ्रमण कराया करता है। अपनी व्याख्या की सिद्धि के लिए प्रस्तावक महोदय ने अपने 'ज्ञान' के प्रयोग का कैसा सुन्दर निदर्शन किया। ऐसे ज्ञानी से भगवान बचावे। यदि ज्ञान का यह अभिप्राय है कि भोले भाले व्यक्तियों को फाँस कर अपना उल्लू सीधा किया जाय तो हम ऐसे ज्ञान को सहस्रों बार नमस्कार करते हैं। (कर्तल ध्वनि)

ज्ञान मन का प्रयोग और द्रुतगामी कर देता है। यह हमें शेखचिल्ली के दुर्ग बनाना सिखाता है। हमारा ध्यान उससे हट जाता है और उसका विरोध करना कठिन ही नहीं असम्भव है। देखिए सूरदास जी क्या कहते हैं:—

माधव जू नेकु हटको गाइ।
निसिबासर यह भरमत इत उत,
अगह कहीं जटि जांय।

क्षुधित बहुत अघात नाहीं,
निगम दुग्ध दल खाय।
अष्ट दस घटनीर अचवै,
तृषा तऊ न बुझाइ।
छहूं रसहू धरति आगे,
बहैं गन्ध सुहाइ।
और अहित अभच्छ भच्छति,
गिरा बरनि न जाइ।
व्योम, धर, नद, सैल, कानन, इते चरि न अघाहि।
दीठ निठुर न डरति काहू त्रिगुण ह्वै समुदाइ॥
हने खल बल दनुज, मानव, सुरनि सीस चढ़ाई।
नील सुर तिमि अरुण लोचन, स्वेत सींग सुहाइ॥
दिन चतुर्दस खल खूंदति, सु यह कहा समाइ।
नारदादि सुकादि मुनि जन थके करत उपाइ॥
ताहि कहु कैसे कृपानिधि, सूर सकत चराइ।
और सुनिये एक अन्य सन्त कवि ने कहा है:—
या करनी का भेद नाहीं बुद्धि विचार।
बुद्धि छोड़ करनी करौ तौ पावौ कछु सार॥
कवि सम्राट रवीन्द्र बाबू और अंग्रेजी कवि वर्ड्सवर्थ किस प्रकार पुस्तकों से भागते थे यह बात किसी

से छिपी नहीं है। प्रकृति में किस विचार की कमी है जो पुस्तकों में उसे ढूंढ़ा जाय। केवल हृदय चाहिए—

Come and bring with you a heart that watches and receives.

तभी तो "Books in running books, sermons in stones and good in every thing" "दीखने लगता है। सज्जनो, पुस्तकों को बन्द कर दो।" let nature be your teacher.

यह 'ज्ञान' हमें कभी समावस्था तक पहुँचने नहीं देता। हम 'स्थितधी' नहीं हो पाते।

जाने दीजिए ये बातें। अब देखिए कि धन से कितने लाभ हैं। धन से आप की स्थिति ऐसी हो जाती है कि आप दान कर सकते हैं। आप सात्विक दानी हो सकते हैं। संसार में सुख पूर्वक जीवन व्यतीत कर सकते हैं। मोटर पर घूम सकते हैं। गहरे ड्रामा थियेटर में जा सकते हैं। स्वराज्य कोष में सब से अच्छा चन्दा दे सकते हैं। धन की महिमा जितनी गायी जाय उतनी थोड़ी है। सुनिये एक संस्कृत कवि क्या कहते हैं:—

"धनैर्निष्कुलीना कुलीना भवन्ति,

धनैरापदं मानवा निस्तरन्ति।

धनेभ्यः परो बान्धु नाऽस्ति लोके,

धनान्यर्जयध्वं धनान्यर्जयध्वं।"

और इधर भगवान के फेर में पड़ कर ज्ञान में पड़ना और फिर स्वयं ज्ञान का भूल भुलैया में पड़ जाना और जीवन व्यर्थ खो देना कहां की समझदारी है। आज तक किस ने उस भगवान को जाना है। भगवान तो इसी संसार के सौंदर्य में छिपा है। देखने वाला चाहिए। किसी फ़ारसी कवि ने कहा है।

दामाने निगह तंगो गुले हुस्ने तो बिसियार।

गुलचीने तो अज़ तंगिये दामां गिला दारद॥

आप लोगों के अवगत करने के लिए मैं इस पद्य का छन्द बद्ध हिन्दी अनुवाद कहता हूं।

लाख लाख हरि छबि सुमन

फूल रहे हर धारि।

युग-अञ्चल सखि साँकरो,

जात न अधिक पसारि॥

अतएव संसार में 'भज कलदारम्' 'भज कलदारम्' का ही मन्त्र मुख्य है। नहीं तो कोई टके को भी न

पूछता। धनियों का ही आदर है। उन्हीं की सब चलती है। धारा-सभाओं में म्युनिसिपेलटियों में, ज़िला बोर्डों में, कालेजों और स्कूलों की कमेटियों में यही धनी लोग राज्य करते हैं। सैकड़ों ज्ञानी भोजनों के लिए घर घर भिक्षा माँगते फिरते हैं।" (कर्तल ध्वनि)
इतनी बात कहते ही उस वक्ता ने मेरी ओर उँगली से इशारा किया। कुछ लोग वेग से मेरे पास आये। मैं घबरा गया और तुरन्त वहाँ से पलायमान हुआ। चलते चलते मैंने यह सुना कि ज्ञानी धनी लोगों की जूती साफ़ करते हैं।

मैं विद्यालय की सीमा के बाहर आया। इतने में एक कर्तल-ध्वनि और सुनाई दी। मैंने अनुमान किया कि वक्ता का सम्भाषण समाप्त हो गया है। मुझे फिर भीतर जाने का साहस न हुआ। बार बार इस मृदुल-स्वभाव बालक की वक्तृता पर मनोमुग्धकारी आनन्द आ रहा था। मैं यह समझता था कि इसकी अधिकांश युक्तियों में कोई सार न था परन्तु उसकी सारी वक्तृता के प्रभाव को मैं भुला न सकता था मेरे हृदय में बार बार यह विचार आ जाता था कि धन वास्तव में बड़ी उपयोगी वस्तु है। धनाभाव के ही कारण मेरी दशा ऐसी दयनीय

हो रही है कि कालेज के छोकड़े मेरे ज्ञान का उपहास करते हैं। अब वास्तव में ऐसा ही उपाय करना चाहिए जिससे धनोपार्जन हो।

मेरी यह धारणा अभी अपरिपक्व थी। मन ने वास्तव में उपयोगिता-वाद की नालिश पर विवेक के सहसा अवाक रह जाने पर उसके प्रतिकूल डिगरी दे दी। विवेक अपील करना चाहता था किन्तु वादी के आतङ्क ने उसका साहस भङ्ग कर दिया। निर्णय स्थिर और स्वीकार रहा। शास्त्रों के प्रतिश्रद्धा धूढ़ा हो जाने के कारण साक्षी देने के लिए खड़ी न हो सकती थी। धर्म-लकुट भी उसके हाथों से गिर गया था। मैं धनोपार्जन के उपाय ढूढ़ने लगा। यह भी ध्यान आया कि यह शास्त्र शास्त्र नहीं है और न वह जीवित रह सकता है जो समयानुकूल व्यवस्था न दे सके। भारतीय शास्त्रकार इस सम्बन्ध में बड़े पटु हैं। उन्होंने अपने शास्त्रों की पंक्तियों की पंक्तियां और भाव के भाव केवल लोकधर्म की रक्षा के लिए परिवर्तित कर दिये हैं। मुसलमान आततायियों के भय से हमारे शास्त्रकारों ने "अष्ट वर्षाद् भवेद् गौरी" इत्यादि वाक् द्वारा ८ वर्ष में ही बालिकाओं के विवाह करने की व्यवस्था कर दी।

यही, नहीं स्वयं वाल्मीकि रामाय
पर्तन कर यह स्पष्ट दिखला दिया
जी का भी विवाह ६ वर्ष की आयु
अन्य लोगों को प्रोत्साहन मिले और
का शीघ्र विवाह करके मुसलमानों से
उदाहरणार्थ सीता की विवाह-संबं
पंक्तियां स्मरण आती हैं। सीता जी

"ममभर्ता महातेजो वयसा सप्तविंशत

अष्टादशाहि वर्षाणि मम जन्मनिगण्यते

अर्थात् वनवास के समय मामभू से
१८ वर्ष और श्रीरामचन्द्र जी की आयु २७
जाती है। अन्यत्र यह भी कहा है कि विवा
में १२ वर्ष तक इक्ष्वाकुओं (सूर्यवंशी राजा
यहाँ रह कर जङ्गल के लिए निर्वासित की
"ऊषित्वा द्वादश वर्षाणि इक्ष्वाकूनाम् निवेशने"
अनुसार तो सीता जी की आयु विवाह के सम
६ वर्ष की रह जाती है। कहने का अभिप्राय यह
शास्त्रों में बहुत कुछ पीछे से मिश्रित किया
अतएव उनके

को ध्रुव सत्य न मान लेना चाहिए। अस्तु। धनोपार्ज
के सम्बन्ध में भी अधिक विचारने की आवश्यक
नहीं। यदि संसार में हमें रहना है तो उसका यथावि
करना हमारा महान कर्तव्य है।

यही सोचता विचारता मैं एक जलाशय के निक
आया। विचार-जगत् का पिष्टपेषण समाप्त हुआ धन
पार्जन करना है, यह निश्चय हो गया। अब उसन
व्यवस्था शेष थी। मैंने सोचा कि मैं बहुत भूल गया
यदि कहीं उस साधु से कुछ धन ऐंठ लिया होता त
आज उससे कोई छोटा मोटा व्यापार करके मुट्ठी में कु
रुपये करता। अनायास यह स्मरण आया कि उस सा
ने फूलपुर में चतुरीसाद की धर्मशाला में चार दि
रहने को कहा था। फूलपुर यहां से केवल २० कोस है
आज उसे गये दूसरा दिन है। यदि मैं चेष्टा करूँ
वह मिल सकता है।

यही विचार कर मैंने तुरन्त फूलपुर का मार्ग ग्रह
किया। इतने वेग के साथ मेरे पैर उठते थे कि मा
उनमें दैवी स्फूर्ति का सन्निवेश हो गया है। मैं चल
थोड़ा पर दूँढ़ता अधिक था। ऐसा प्रतीत होता था
फूलपुर अत्यन्त निकट है और मैं अभी पहुँचने वाला हू

मार्ग में बहुत से लोग मिले परन्तु मुझसा
न था। मार्ग के किसी भी प्रलोभन ने मुझे
न किया। भ्रमण करते हुए बकरे मिले,
गो-समूह मिला, उड़ते हुए विहङ्गम मिले,
बानर मिले और हँसते हुए बालक मिले,
ने मुझे आकृष्ट न किया। लगभग ७-८ घण्टे में
पहुँच गया और ढूंढ ढाड़ कर धर्मशाला
हुआ।

मित्र को देख कर मैंने अभिवादन किया।
के निकट बैठ कर हम दोनों फिर बातें करने
भ्रमित देख कर उसने बड़े दयाभाव से इस
पूछा। मैंने बतलाने में कुछ आनाकानी की
निकट उसकी झोली न देख कर मैं अत्यन्त
मुझे यह भय हो गया कि सम्भवतः मेरा प्रय
हुआ। मैंने सब बातों को दबा कर सबसे प्र
प्रश्न किया कि आपकी झोली कहाँ है। उस
दिया कि उसे तो कोई चुरा ले गया। मैं नि
गया। थोड़ी देर के बाद मैंने कहा कि आपकी
भारी हानि हुई। उसने सिर हिलाते हुए
हाँ, अधिक हानि हो जाती यदि मैं स्वर्णमुद्रा

विन शीघ्र बोध की डिब्बी में न रख लेता।

इसको सुन कर चित्त में कुछ स्थिरता आयी निराशा की भावना कुछ मन्दप्राय सी हो गयी। आद का प्रकाश दृष्टिगत हुआ। परन्तु अब समस्या यह कि यह आत्मसात् कैसे की जाय। शीघ्रबोध की डिब कैसे दृष्टि में आवे। मैंने सोचा कि चिलम पीने बहाना निकालना चाहिए। इतने में एक दूसरा चिमट धारी 'अलख जगाता' हुआ आ गया। यह भी हम लोग के साथ बैठ गया। मैंने अपने मित्र से शीघ्रबोध डिबिया की याचना की। उसने झट निकाल कर मु दे दी। मैंने उसका अमूल्य पदार्थ तो नवागत चिमट धारी को दे दिया परन्तु डिब्बी धीरे से अपने वस्त्रों तिरोहित कर ली और लघुशङ्का-निवारणार्थ बाहर कर नौ दो ग्यारह हुआ। इस बार का वेग पूर्व के वेग कहीं द्रुततर था। मैंने लगभग तीन कोस तक भाग शान्ति ली। न जाने मुझे मेरे पैर कहाँ ले आये थे। मैं अपने आपको एक बृहद् भवन के नीचे खड़ा पाया। कु लोग और खड़े थे। न जाने किसके धोखे से वे मुझे सु कर ऊपर ले गये। मैंने ज़ीने में ही कौड़ियों के खुड़क का शब्द सुना। मैंने समझा शायद चौपड़ का खेल हो

ऊपर जाकर क्या देखता हूँ कि वहाँ पहिले से लोग खेल रहे हैं। उनके सामने रुपयों की राशि लगी थी। मुझसे भी उन लोगों ने खेलने के लिए कहा। मुझे यह खेल न आता था। एक ने मुझे समझा कर मेरे सम्मिन में खेलना आरम्भ कर दिया। शीघ्र ही हम दोनों ने य का धन जीत लिया। मैं खेल भी अच्छी तरह सीख गा। अन्त में हम दोनों का परस्पर खेल होने लगा। ने इसका भी सब धन जीत लिया। इधर उधर कुछ न याचकों को वितरित कर लगभग १००० रु० लेकर नीचे उतरा।

प्रातःकाल हो गया था। मुझे यह भय था कि कहीं ई मुझसे रुपया न छीन ले। द्यूत क्रीड़ा को शास्त्रों में : कहा है परन्तु मुझे इससे कितना लाभ हुआ। यह शास्त्रों के खोखलेपन का अच्छा उदाहरण है। मैं । लेकर एक द्रुतगामी यान पर बैठ गया। उस ने मुझे : विशाल चौराहे पर खड़ा किया। मैं झट एक न पर गया और अपने पहनने के लिए वस्त्र लिये। झट ही एक सुन्दर सा भवन ३०) रु० मासिक पर ाये का लिया। भवन के सुसज्जित करने की चेष्टा होने । । अपने पहनने के लिए सुन्दर से सुन्दर वस्त्र लिये।

दो तीन मास अत्यन्त आनन्द से कटते रहे। बहुत से मित्र हो गये। प्रीति-भोजों की व्यवस्था की जाने लगी। रात दिन हारमोनियम और तबला ठनकने लगा। परिणाम यह हुआ कि मैंने आधे से अधिक धन तीन मास में ही व्यय कर दिया। अपनी योग्यतानुसार निर्धनों की भी सहायता की। चिकित्सालय, विद्यालय, वाचनालय इत्यादि सभी संस्थाओं में दान दिया। धन-संवर्धन की चिन्ता हुई। मुझे कुछ व्यापारी मित्र बहुत मानते थे। उन्होंने रुई की 'बदनी' में कुछ मेरी भी पत्ती कर दी। इस प्रकार दो सहस्र रुपया प्राप्त हुआ। परन्तु मैं ने सोचा कि यह धन अपर्याप्त है। दो चार और दो दो सहस्र की आय हुई। अब विचार हुआ कि मैं स्वतन्त्र सट्टा किया करूँ। अन्त में थोड़ा सा कार्य्य आरम्भ किया। एक निज दुकान खोली। सौ रुपया मासिक का निवासस्थान लिया। सट्टे का कार्य्य आरम्भ किया। थोड़े ही दिनों में मेरी पूँजी एक हजार से बढ़कर १० लाख तक हो गयी। कितनी शीघ्रता से इतना धन बढ़ गया, इस का ज्ञान मुझे नहीं। दो वर्ष के अनन्तर मेरे पास दो करोड़ की सम्पत्ति हो गयी। इस समय मेरे पास ५१ मोटरें और २०० से अधिक घोड़े गाड़ियाँ हो गयीं। भारतवर्ष की प्रत्येक बड़ी

ारिक मण्डी में मेरी दुकान खुल गयी। गत वर्ष की अपेक्षा
ोटरों की संख्या-वृद्धि का विचार आया। २० मीलों
ी दौड़धूप ऐसे नहीं होती। ३११ मनुष्य गत वर्ष
री मोटरों से आहत हो चुके थे! परन्तु इनकी ओर
हाँ ध्यान दिया जा सकता था। २१ मनुष्य तो एक ही
मेल में इञ्जन के विस्फोट से समाप्त हो गये। परन्तु
न दुर्घटनाओं की गणना कहां तक की जाय।

अब मेरे पास छोटे मोटे चन्दा माँगने लोग नहीं
ाते। K. C. S. I. हो जाने के पश्चात् मैं चन्दा बहुत
ोच विचार कर देता हूँ। किसी ऐसी संस्था में चन्दा
ुँच जाने से, जो सरकार के प्रतिकूल आन्दोलन करने
ा साहस करे, सर्वथा हानि हो जाने की आशङ्का है।
तएव मैंने यह नियम कर लिया कि जिन संस्थाओं
सञ्चालन कलेक्टर अथवा कमिश्नर के हाथ में है
के अतिरिक्त और किसी संस्था के हाथों में चन्दा न
ा। वास्तव में सरकारी कर्मचारियों के भोज के ही
दे इतने अधिक होते थे कि अन्यत्र चन्दा देना कठिन
आता है। मैंने फुटकर दान सब बन्द करवा दिये।
ु लोग बड़े नीच और धूर्त होते हैं। उनके वेश की
ा में आकर धन देना अपव्यय है। अब से गवर्नर

साहब ने मुझे धारा सभा की सदस्यता प्रदान की त
से ध्यय और भी बढ़ गया है।

सारे भारतवर्ष में भ्रमण करना पड़ता है। प
बार एक बर्क-मील से अनबन हो जाने के कार
मैंने तुरन्त एक नया मील खोल कर उस मील के स्वाम
को दरिद्र कर दिया। किसी को मुझसे न्यायालयों द्वार
विजय पाना अत्यन्त दुष्कर था। कोप का मुंह खोलने
योग्य से योग्य बैरिस्टर और वकील पक्ष के लिए प्रस्तु
हो जाते थे। हाईकोर्ट तक में धन द्वारा मैं अपना का
कर लिया करता था।

व्यायाम करने का अवकाश न मिलने के कारण औ
अत्यन्त गरिष्ट भोजन करने से मुझे श्वास का रोग
गया। इससे मुझे बड़ा कष्ट होने लगा। डाक्टरों
औषधि और पहाड़ों के जलवायु ने भी कुछ परिवर्त
न किया। मुझे डाक्टरों ने यूरोप जाने का आदे
दिया। शरीर अनावश्यक रूप से बढ़ गया था। मैं
यूरोप जाने का आयोजन किया। स्विटज़रलैण्ड में मे
लिए एक सुन्दर भवन रिक्त कराया गया। मैं थोड़े दि
तक वहाँ रहा। परन्तु कुछ लाभ न होने के कारण पेरि
चला गया। वहाँ कुछ लाभ हुआ। मैंने वहाँ कुछ व्याय

करना भी आरम्भ किया और उसमें कुछ लाभ
फ्रांस में मुझे भ्रमण करने का भी चिसका लग
परन्तु महिला समाज से मैं दूर भागता था। धन
पानी की भाँति व्यय किया । व्यापार और घुड़
कुछ घाटा हुआ । पेरिस में मर्यादा स्थापित र
लिए तिगुणित धन लगा कर व्यापार किया । य
चला गया। फिर अधिक धन लगाया। इसकी भी ह
हुई। कई बार व्यापार में क्षति पहुँचने पर मेरे सब मि
पर भारतवर्ष में दूसरों का आधिपत्य हो गया। क्षति
का जो मैंने हिसाब लगाया तो ज्ञात हुआ कि सब ले
देकर दो लाख बचता है। मैं अत्यन्त खिन्न हो गया।
ऐसा अनुभव करने लगा कि भारत न आकर पेरिस में
ही रहूँ। परन्तु धन की सुचारु व्यवस्था भारतवर्ष में
करनी थी अतएव 'बाम्बे' लौट आया। यहाँ अपनी
जन्मभूमि में एक निराला परिवर्तन पाया। जितने व्यक्ति
मुझे पहुँचाने आये थे उनके सतांश भी स्टेशन पर मुझे
स्वागत करने नहीं आये। परन्तु इसकी मुझे चिन्ता न
हुई। मैं वास्तव में इस दीनावस्था में किसी से मिलना
भी नहीं चाहता था

सब लोगों का धन देकर १

धन मैंने इम्पीरियल बैङ्क में जमा करा दिया और प
भवन कालबा देवी रोड में लेकर शान्तिपूर्वक औ
एकान्त में जीवन व्यतीत करने लगा। विनोद के लि
कुछ प्राचीन मित्र आ जाया करते थे।

लगभग दो वर्षों के पश्चात् मेरे एक प्राचीन मि
ने मुझे कुछ व्यापार करने का परामर्श दिया। मैं व्यापार
नितान्त पराङ्मुख था। परन्तु दो व्यापारियों को देख
देखते बड़ा लाभ हो गया। मेरा भी चित्त चल गया
मैंने भी कुछ व्यापार किया। लगभग २० सहस्र मिले
इसके पश्चात् पुनः दो बार सट्टा किया। इसमें लगभ
एक लाख की क्षति हुई। जिस प्रकार सन्निपात प्रा
व्यक्ति को मृत्यु के पूर्व न जाने कितनी शक्ति आ जा
है और वह बड़े वेग से उसका प्रयोग करके शीघ्र
सर्वदा के लिए निष्क्रिय हो जाता है उसी प्रकार मैं
भी घाटा होने पर भी अधिक अधिक धन से और स
आरम्भ किया। परिणाम यह हुआ कि मुझे कुल मि
कर दो लाख का देना हो गया।

जिस दिन मुझे यह दुःखद समाचार मिला, मैं शो
से आक्रान्त होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा और कातर स्व
से रोने लगा। कुल बैङ्कों का सारा धन नाश हो गया

ऊपर से कुछ धन और देना रहा। अब यह चिन्ता थी कि कल प्रातःकाल भुगतान वाले दुकान घेरेंगे। मैं क्या करूँगा। उन्हें किस प्रकार सान्त्वना दूँगा। मुझे इस बात का तनिक भी ध्यान न था कि मैं भविष्य में क्या करूँगा। परन्तु 'तगादा' करने वालों के अपमान का बड़ा भय था। मैं उठ कर ऊपर के कमरे में चला गया। यहाँ आकर पुनः वेग से रोने लगा। रोने के सिवा कुछ न सूझता था मैंने सेवकों को अपने पास आने से मना कर दिया था। जब शोक बाहुल्य से छूट कर चिन्तना शक्ति को कार्य्यशील होने का अवकाश मिलता तो बारम्बार यही विचार आता था कि प्रातःकाल मेरी क्या दशा होगी और तब चिन्तना शक्ति को शोक पुनः आक्रान्त कर लेता था

अर्द्ध रात्रि व्यतीत हो चुकी थी विपदा का कोई अन्त न देख पड़ता था। मैंने अन्त में यह निश्चय किया कि विष द्वारा आत्महत्या कर लूँ। परन्तु विष कहाँ निकट था। इतनी रात्रि को विष कहाँ मिल सकता था प्रातःकाल तो सारा अपमान हो ही जायगा। शीघ्र ही मैं छज्जे पर आया और विचार करने लगा कि मार्ग पर सर के बल गिर पड़ूँ तो अवश्य ही मृत्यु हो

जायगी। तीन बार मैंने चेष्टा की परन्तु तीनों बार मुझे किसी ने पीछे से आकृष्ट कर लिया। मैं विचार करने लगा कि यदि गिरने पर भी मृत्यु न हुई तो और भी उपहास होगा। अङ्ग भङ्ग भी हो जायगा। न जाने यह कायरता का व्यक्त प्रलाप था, न जाने यह वास्तविक विचार। अन्त में यही निश्चय हुआ कि यह कार्य ठीक नहीं।

पर्याङ्कासीन होने पर पुनः शान्ति न मिली। बार बार यही विचार आता था कि किसी प्रकार प्रातः-काल न आवे। किसी प्रकार रात्रि में ही मेरा अन्त हो जाय। मुझे एकाएक यह स्मरण आ गया कि मेरी अँगूठी का नग हीरा है। अतएव इसी का प्रयोग करना चाहिए। मरने के लिए मैं प्रस्तुत हो गया। भगवान का नाम लेने लगा यह विचार कर, कि मरने के पूर्व भगवान का भजन कर लेना चाहिए, मैं बैठकर ध्यान करने लगा। ध्यान में अनायास मुझे मेरे अवधूत शिष्य का चित्र चित्रित हो गया करता था। मैंने चित्त से उसकी वन्दना की। और एक क्षण के लिए उसके ध्यान में मग्न हो गया।

समाधि-भङ्ग होने पर मैंने समय देखा। तीन बजे थे। अब मैंने हीरा चुम्बन करने का प्रयास किया।

किसी ने द्वार खटखटाया। मैं रुक गया। अन्त में यह निश्चय किया कि द्वार का निष्कपाट करना उपयुक्त नहीं, पहले अपना अन्त कर देना चाहिए। परन्तु द्वार पुनः वेग से खटखटाया गया। मैं इसकी उपेक्षा न कर सका। झट अँगूठी हाथ में पहनी और किवाड़ खोल दिये। मेरा अवधूत शिष्य एक दूसरे व्यक्ति के साथ भीतर आया। उसे देखकर झट मैंने उसे प्रणाम किया। परन्तु मुझसे पूर्व ही उसने मुझे प्रणाम किया था। मुझे बारम्बार इस अवधूत ने सहायता की है। इस बार मैं इससे सहायता न माँगूगा। यह सोचकर मैंने अपनी स्थिति का परिचय देना इसे उपयुक्त न समझा। हम सब बैठ गये। उसने मुझे प्रणाम किया था। अवधूत बिना कुछ कहे ही कहने लगा "गुरुवर, मैंने सब समाचार सुन लिया है। आपका सारा देना मेरे मित्र चुका देंगे और व्यापार के लिए जितना धन आप चाहें उतना भी मिल सकेगा।" मुझे कुछ प्रसन्नता हुई। परन्तु अवधूत ने आगे फिर कहा—"परन्तु आप क्या इस पङ्क में निमज्जित रहना चाहते हैं!" मुझे साहस न हुआ कि मैं ना कह दूँ। मेरे मुख से अनायास निकल गया कि मुझे इस दुख से आप एक बार बचा लीजिए। मैं और कुछ नहीं चाहता। इस पर अवधूत

ने कहा—"आप मेरे साथ चलिए" मैं चलने ही वाला था परन्तु फिर यह विचार आया कि धन का भुगतान मेरे सामने ही हो तो अच्छा है। इसको सब ने स्वीकार क लिया। प्रातःकाल हुआ। 'तगादगीरों' की भीड़ थी। मे मुख पर कुछ प्रसन्नता की झलक थी। उनको चेक का कर दिये जाने लगे। मध्यान्ह तक सब का भुगता हो गया।

अवधूत का मित्र उनसे आज्ञा लेकर चला गया अवधूत ने मुझ से शीघ्र से शीघ्र उस स्थान को छोड़ का आग्रह किया। जो कुछ शेष धन था उसे चिकित्स सब को दान कर मैं सादे वस्त्र पहन कर निकल ६ हुआ। हम दोनों घूमते घूमते एक रम्य वनस्थली में निकले। वहीं से पाँच मार्ग विभिन्न दिशाओं को गये थे ध्यान से देखने से ज्ञात हुआ कि मैंने इसी स्थान से भ्रम आरम्भ किया करता था।

थोड़ी देर तक हम दोनों एक शिला पर अवाक् बैठे रहे। फिर मैंने अवधूत से पूछा कि मुझे इस बार इतने क्यों उठाने पड़े। उसने मुस्करा कर कहा—"भगवान, में आप ही का दोष है। विषयों में पड़कर उनके विपा प्रकाश का उल्लंघन देना कहाँ तक न्याय सङ्गत है। तामि

प्रभु का कहना है कि 'दुनिया में दो चीज़े हैं, जो एक दूसरे से बिलकुल नहीं मिलती। धन सम्पत्ति एक चीज़ है और साधुता तथा पवित्रता बिलकुल दूसरी चीज़ है।' प्रभु ईसूमसीह ने कहा है—"सुई के नकुए से ऊँट का निकल जाना तो सरल है पर धनिक मनुष्य का स्वर्ग में प्रवेश करना असम्भव है।" आपने तो इन बातों का अनुशीलन किया था परन्तु फिर भी आपने इनकी उपेक्षा की विषयों के उपभोग की क्षमता रखता हुआ उनसे दूर रहे तभी सच्चा नि ंग्रण है।

भोग भोग कर शान्ति लाभ करने की बात नितान्त विडम्बनापूर्ण है। एक तो "हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवभिवर्द्धते" इस कल्पनानुसार तृष्णा बढ़ती जाती है। दूसरे, थके वृद्ध अश्व को निकालने से लाभ ही क्या? जब इन्द्रियों में बल है और शरीर में स्फूर्ति है तभी उन्हें संयम से कस कर सन्मार्ग में लाने की आवश्यकता है। यहाँ इन्द्रियों को संयम और अनुशासन द्वारा अधिक जागरूक बनाने के लिए ही आदेश है। उन्हें सुखा कर मार डालने का नहीं।

आपकी कार्यशीलता निन्द्य नहीं, परन्तु प्रणाली निन्द्य है। आपने धनोपार्जन की तो व्यवस्था की, परन्तु समुचित

धनोपयोग न किया। उसे अपने ऐहिक सुख के लिए लगाया। उद्देश्य क्या रखा था और कार्य कैसे किये, यही दुख का कारण है।

मैं इस शिक्षा को नतमस्तक हो कर श्रवण करता रहा। अन्त में मैंने यही कहा कि महाराज मुझे तो कई बार इसी प्रकार मार्गस्खलन हो चुका है। अपनी सब भूलों को समझ जाया करता हूँ। परन्तु फिर फिर भूलें करता हूँ। इसकी क्या ओषधि है? इस पर उसने उत्तर दिया कि अभी तक आपको वास्तव में दीक्षा नहीं मिली। दीक्षाएँ दो प्रकार की होती हैं। एक सांसारिक दीक्षा (Horizental Conversion) और दूसरी आध्यात्मिक दीक्षा (Vertical Conversion) भलदन आपको बार बार सांसारिक दीक्षा तो दी गयी परन्तु आध्यात्मिक दीक्षा अभी नहीं मिली। आपको वास्तव में ऐसा कोई गुरु नहीं मिला जिसके गुरुत्व में आपको विश्वास हो। अन्यथा आपका उद्धार हो गया होता। उन्नति का क्रम वास्तव में वैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाय तो निम्नलिखित चित्र के अनुकूल है।

(१) देवजीवन।

(२) मानव जीवन।

(३) पशुपक्षी जीवन।

(४) न्यग्रोध जीवन।

(५) निर्जीव सृष्टि।

इस चित्र के भी अनुकूल यदि 'पङ्क', जिसकी गणना अन्तिम कोटि में है, चतुर्थ कोटि में पहुँचना चाहे तो उसे भी 'पङ्कज' से प्रार्थना करनी पड़ेगी। यही नहीं जब तक कमल पङ्क में गड़ कर गुरु की भाँति उसका उद्धार नहीं करेगा तब तक पङ्क कमल में परिवर्तित नहीं हो सकता। बस, सब प्रकार की उन्नति का यही क्रम है। उत्तम गुरु के बिना आध्यात्मिक उन्नति सम्भव नहीं।

मैंने ये बातें भी ध्यान से सुनीं। नेत्रों में जल भर आया। अपने ऊपर ग्लानि आयी। सहसा विचार अङ्कुरित हुआ कि मैंने इस अवधूत को इसके वास्तविक रूप में नहीं समझा। तुरन्त वेग से चरण पकड़ लिये। उसने इस बार अपने चरण नहीं हटाये। मैं मनमानी भावुकता से उन्हें दबाता रहा। उसी के चरणों में सिर रखकर मैं सो गया। न जाने कितनी देर तक सोता रहा। नेत्र खुलने से फिर अपने 'गुरु' को उसी स्थान पर बैठा पाया। उनकी ओर देखकर फिर एकाएक अश्रुधारा प्रवाहित हो निकली। पृथ्वी

पर सिर रखकर लेट गया। मैंने अनुभव किया कि मेरे गुरुदेव ने अपने कोमल करों को कई बार मेरे ऊपर फेरा। फिर मैं निद्रित हो गया। जब मैं जागृत हुआ तब भी उनका हाथ मेरे ऊपर था। उन्होंने मेरी ओर पुत्र-भाव से दृष्टि विक्षेप किया। उनके नेत्र मेरे हृदय में गड़ गये। उन्होंने मुझे एक निकट की पर्णशाला में चलने को कहा। मैंने उठने की चेष्टा की परन्तु पैरों में शक्ति न थी। जैसे तैसे हम दोनों उस कुटिया में गये। वहाँ थोड़ी सी भोजन सामग्री रखी थी। पृथ्वी पर कुछ बिछा था। जलपान के लिए एक मृतभाण्ड रखा था। यहीं उन्होंने मेरे लिए निवास का प्रबन्ध किया। भोजनों को अपने हाथ से पकाने की व्यवस्था की। अनभ्यस्त होने के कारण मैंने अपनी एक उँगली बुरी प्रकार जलाली। अवधूत ने उसे तुरन्त ही ठीक करने की चेष्टा की। साथ ही साथ यह भी कहने लगा कि पापों का प्रायश्चित्त अच्छा हुआ।

गुरुवर की आज्ञानुसार मैं इसी स्थान पर रह कर नगर में अपने कटु अनुभवों का लोगों को दिग्दर्शन कराने के लिए जाया करता था। मैं बहुत वर्षों से इसी कुटिया में रहता था। केवल सम्भाषण द्वारा अथवा लेखों द्वारा कभी कभी अपने अनुभवों को व्यक्त कर दिया करता

पावन बना जाते थे। उन्होंने मुझसे सर्वदा मिलते रहने का आदेश दिया था। परन्तु मुझे इन थोड़े दिनों से ऐसा प्रतीत होता है कि संसार में अब मुझे कोई नया अनुभव नहीं करना है। मैं अपने सब अनुभव लोगों को सुना चुका हूँ। मेरे अवधूत गुरु ने भी मुझसे सर्वदा के लिए चार दिन हुए विदा माँग ली है। मैं भी शीघ्र ही इस संसार से सर्वदा के लिए विदा लेने वाला हूँ। पथिक का पथिकत्व वास्तव में तभी समाप्त होगा। अन्त में भगवान से केवल यही प्रार्थना है कि मेरे अनुभवों से लोग लाभ उठावें। इसी से मेरी आत्मा को सान्त्वना मिलेगी।

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१८	९	अपगा	आपगा
२५	१५	आत्मसाद्	आत्मसात्
३२	२	प्रथोत	प्रद्योत
३५	१८	"	"
४१	१०	पुन्नामूनर्कात्	पुन्नामनरकात्
४५	२०	नर्क	नरक
४६	३	चाप्मद्दनी	चात्मघ्नी
५०	५	अर्द्ध-अस्फुटित	अर्द्ध-स्फुटित
५१	६	शौष्ठव	सौष्ठव
५३	१४	स्खलित-स्थान	स्खलित स्थान
५३	१६	श्राय	स्राय
५४	४	प्रभोत	प्रद्योत
५५	८	आद्र	आर्द्र
५६	१०	हिंस्यान्नान्यस्य	हिंस्यान्नान्यत्रेप
५९	५	व्याधा	व्याध
५९	१६	सहस्त्रं	सहस्रं
५९	१७	सहस्त्रादि	सहस्रादि

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५९	१७	विदिशायाि	विदिशायां
५९	२०	सत्पूता, वेदलांचं	सत्पूतां वेदलांचं
६१	३	पर्	पर्
६१	८	गिरौ	गिरौ
६१	१०	हिनरित	हिनस्ति
६२	७	पञ्चरम्यनराया	पञ्चरम्यनसा
६२	८	मदयः	मदयाः
६२	११	करत्यपि	करुत्यपि
६२	१२	तेऽधिशादो	तेऽधिकारो
६२	१२	धर्मों ।	धर्मे
६५	१९	गृहण	ग्रहण
६८	८	यष्टिका	यष्टिका
७२	२	कला	कलायान्
७२	१०, १७	किशलय	किसलय
७२	१३	शतहद	शतह्रद
७२	१९	जह्नो	जह्नाओं
७५	४	परिरम्भा	परिरम्भ
७६	३	किशलय	किसलय
७७	१६	माहला	महिला

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
७९	५	स्वासु-पुञ्ज	स्वास-पुञ्ज
८२	९, ११	परिमाणु	परमाणु
८४	४	संजीवनस्य	संजीवनस्व
८४	४	परिमोदनश्च	परिमोदणश्व
८४	६	जड़ता	जडता
९०	१४	अस्मिन्नहार्यो	यस्मिन्नहार्यो
९२	४	वृद्द	वृद्धि
९३	३	गाढोद्वेगः	गाढोद्वेगं
९३	४.	मोह्यो	मोहं
९३	६	विधिमर्मच्छेदो	विधिर्ममच्छेदी
९३	९	निसंज्ञ	निस्संज्ञ
१०६	१०	जाद	ओढ
१२२	३	गम	सुगम
१२६	४	—	तू
१२७	१६	अहमत्व	ममत्व
१२९	१६	नहीं	नहीं
१३१	१८	प्रभोत	प्रस्रोत
१३५	९	—	में
१४३	१६	मृतं	मृत्यु

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१४३	१९	कर्मः जै—	कर्मजै—
१४४	७	तेज	तेजा
१४५	९	यागी	योगी
१४५	१७	अपस शब्द	अपशब्द
१४६	४	मुमुक्षुः	मुमुक्षु
१४६	९	मुमुक्ष	मुमुक्षु
१४७	१७	जुरिस पुडेन्स	जुरिस प्रुडेन्स
१५१	१३	माद्र	आद्र
१५२	१५	पयम	प्रयम
१५२	२०	चका	चुका
१५५	१३	प्रधोत	प्रद्योत
१५६	३	समर्दिनः	समदर्शिनः
१५९	१	लोक	लोकः
१५९	९	विरोध	निरोध
१६०	४, १०	आत्म-साध	आत्म-सात्
१६०	२०	निसंग्र	निःसंग्र
१६२	१५	मनदचञ्चल	मनश्चञ्चल
१६३	५	निशक	निःशक
१६३	१८	समः	शमः

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१६५	१३	क्रोधाम्नवति	क्रोधाद्भवति
१६५	१४	स्मृति भ्रंशाद्	स्मृति भ्रंशाद्
१८८	२	सतांश	शतांश
१८८	११	मश्नोत	प्रद्योत
१९३	११	सतशारदायुष्मान्	शतशारदायुष्मान
१९७	५	—	है।
२००	१३	प्रश्नोत	प्रद्योत
२०४	५	षोडस	षोडश
२१२	१०	मैस्यम) पीह	भैक्ष्यमपीह
२१२	१२	आयेयुः	जयेयुः
२१२	१३	तेऽवस्थितः	तेऽवस्थिताः
२१२	१४	कर्पंण्य	कार्पंण्य
२१२	१५	यच्द्रसः	यच्छ्रेयः
२१२	१५	धूम_	ब्रूहि
२१२	१७	भूमावसपन्तमृद्ध'	भूमावसपत्नमृद्ध'
२१२	१७	राज्यं	राज्यं
२१३	१५	प्रप्स्यसि	प्राप्स्यसि
२१३	१५	जित्या	जित्वा
२१३	१९	प्रो	प्रो

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१५३	१९	कर्मः जै—	कर्मजै—
१५४	७	तेज	तेजा
१५५	९	यागी	योगी
१५५	१७	अपस शब्द	अपशब्द
१५६	४	मुमुक्षुः	मुमुक्षु
१५६	९	मुमुक्ष	मुमुक्षु
१५७	१७	जुरिस पुडेन्स	जुरिस प्रु
१५१	१३	माद्र	आद्र
१५२	१५	पथम	प्रथम
१५२	२०	चका	चुका
१५५	१३	प्रद्योत	प्रद्योत
१५६	३	समर्दिनः	समदर्शिन
१५९	१	लोक	लोकः
१५९	९	विरोध	निरोध
१६०	४, १०	आत्म-साध	आत्म-सात्
१६०	२०	निसंश	निःसंश
१६२	१५	मनश्चञ्चल	मनश्चञ्चल
१६३	५	निशाक	निःशाक
१६३	१८	समः	शमः

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२२५	२०	सविकारमुदाहृतम	सविकारमुदाहृत:
२२६	८	यद्दतोन्यथा:	यद्दतोन्यथा
२२७	१	यस्मन्नोद्विजते	यस्मिन्नोद्विजते
२२७	१	लोकान्नोद्विजते	लोकोन्नोद्विजते
२२७	२०	के	में
२२८	१५	आत्म-सात	आत्म-सात्
२२८	१९	पियतम	प्रियतम
२२९	११	विद्वता	विद्वत्ता
२३०	९	ऊँचा	ऊँचे
२३०	१४	अशीर्वाद	आशीर्वाद
२३१	५	आत्म-साध	आत्म-सात्
२३२	८	आत्म-सात	आत्म-सात्
२३५	१३	यतस्ततः	इतस्ततः
२४०	१९	अवतरित	अवतीर्ण
२४१	१	स्यम्भों	स्तम्भों
२४२	१२	द्रतगामी	द्रुतगामी
२४९	५	,,	,,
२५०	२	कर्तल-ध्वनि	करतल-ध्वनि
२५१	८. १९	,,	,,

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२५२	१२	कर्तल-ध्वनि	करतल-ध्वनि
२५५	१	घनैर्निपुल्लीना	घनैर्निपुल्लीना:
२५५	३	बान्धु	बान्धवो
२५५	४	धनान्यर्जयाथं	धनान्यर्जयथम्
२५६	५, १२	कर्तल-ध्वनि	करतल-ध्वनि
२५६	१५	आरह	आरहा
२५७	१६	वर्षाद्	वर्षा
२५८	८	महातेजो	महातेजा
२५८	१५	इश्वाकूनाम्	इश्वाकूनां
२५८	१५	ऊपित्वा	उपित्वा
२६०	३	रोमन्थमान	रोमन्थाय
२६१	१५	द्रततर	द्रुततर
२६३	१०	रुपय	रुपया
२६५	११	अवकास	अवकाश
२६६	६	तिगुणित	त्रिगुणित
२६६	१६	सतांश	शतांश
२६९	४	भा	भी
७२	१	आ	औ